श्रीसोमदेवसूरिविरचितं

नीतिवाक्यामृतम्

सविशेष-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

रामचन्द्र मालवीय

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१६२

श्रीसोमदेवसूरिविरचितं

नीतिवाक्यामृतम्

सविशेष-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

रामचन्द्र मालवीय

एम. ए., एल. टी., आचार्य

प्रस्तोता (अवकाशप्राप्त)

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

१९७२

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

162

NITIVAKYAMRITAM

OF

SOMDEVA SŪRI

WITH

EXHAUSTIVE HINDĪ COMMENTARY

By

RĀMCHANDRA MĀLAVĪYA

Vyakaranshastrāchārya, M. A., L. T., Hindī Sāhityaratna

Ex-Registrār

Vārāṇaseya Sanskrit Vishwavidyālaya

Vārānasī.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1972

उपोद्घात

नयनं विजिगीषोस्त्रिवर्गेण संयोजनम् अथवा नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु स्वेषु सदाचारेषु लोकः यया सा नीतिः।

किसी दूसरे राष्ट्र पर विजय की अभिलाषा रखने वाले को जिस कार्य-पद्धति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम की प्रतिकूलता नहीं होती अथवा जिसके द्वारा जनता अपने धर्म सम्प्रदाय अथवा जाति के आचार-विचारों से च्युत नहीं होती उसका नाम नीति है। नीति का सम्बन्ध न्याय से है। जो न्यायानुमोदित है वही नीति है। इस प्रकार नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र के समीप आ जाता है अत एव एक दूसरे की उक्तियों में बहुधा साम्य पाया जाता है। केवल नीति शब्द का प्रयोग करने से स्वभावतः सत्पथ की ओर प्रवृत्त करने वाली पद्धति का बोध होता है। जो लोक-व्यवहार को मर्यादित रखने में सहायक होती है। ग्रन्थकार ने भी 'नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति' इस सूत्र के द्वारा इसी आशय को व्यक्त किया है। सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ व्यापक क्षेत्र में समान नीति के पालन से श्रेयस् की सिद्धि मानने वालों के द्वारा राजनीति, दण्डनीति, अर्थनीति, कूटनीति इत्यादि विशेषण युक्त नीति का वर्गीकरण होता रहा किन्तु नीति अपने स्थान पर सुदृढ़ रही और विशेषणों के आधार पर राजनीति और लोकनीति के द्वारा नीति का व्यापक रूप पृथक्-पृथक् खण्डों में प्रकाशित हुआ। शिशुपालवध के प्रणेता महाकवि माघ ने—'आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती' को लिखकर संक्षिप्त रूप से नीति के दो ही स्वरूप बताये हैं। जिससे स्व का उत्कर्ष हो और पर का ह्रास हो यही दो नीति हैं। महाभारतकार ने शान्ति पर्व में लिखा है—

"मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः, क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥"

राजा की दण्डनीति यदि सशक्त न हो तो वेदत्रयी अर्थात् ऋक्, यजुः, साम लुप्त हो जायं और संस्कृति और सदाचार के आधार समस्त धर्म विनष्ट हो जायं तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के धर्मों की भी मर्यादा ध्वस्त हो जाय। इस प्रकार प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध 'क्षात्र' अर्थात् क्षत से रक्षा करने वाले राजधर्म अथवा राजनीति का विनाश होने पर समस्त लोक-

व्यवस्था विलुप्त होने की संभावना होती है। नीतिशास्त्र की इस महत्ता को ध्यान में रखते हुए अतीत के अनुभवी महापुरुषों ने नीतिशास्त्र का निर्माण किया जिनमें कामन्दक, कौटिल्य, शुक्र और बृहस्पति तथा विदुर की नीति की विशेष ख्याति हुई।

प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण सूत्रों और पद्यों के माध्यम से होता रहा है और यह स्वाभाविक भी था। उस समय न मुद्रण यन्त्र थे न सार्वजनिक विशाल पुस्तकालय। परिणामतः प्रत्येक विद्वान् को अपना विद्या-वैभव अपने मस्तिष्क के सूक्ष्म तन्तुओं में सदा सम्बद्ध रखना पड़ता था। सूत्र और पद्य इसके लिये सहायक थे। सूत्रप्रणाली तो भारतवर्ष की निजी विभूति है। विशद से विशद-तत्त्व सूत्ररूप में मनुष्य स्मरण रख सकता है।

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"

थोड़े अक्षरों में संशयहीन सारवान् और व्यापक अर्थ वाली विरामशून्य निर्दोष रचना प्रणाली सूत्रप्रणाली है। अनेक गृह्य, कल्पादि सूत्रों के साथ पाणिनि के सूत्र कितने लोकप्रिय हुए और उसमें व्याकरण का समस्त तत्त्व किस प्रकार सन्निविष्ट हुआ यह किसी भी संस्कृतप्रेमी से अविदित नहीं है। व्यास के ब्रह्मसूत्र गौतम कणाद के न्यायवैशेषिक के सूत्र और जैमिनि के मीमांसासूत्र आदि ही तो समस्त संस्कृत वाङ्मय और समस्त भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। इन सूत्रों पर भगवान शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, महर्षि पतञ्जलि जैसी विभूतियों ने भाष्य लिखे। इससे ही इन की महत्ता का मूल्यांकन किया जा सकता है। नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र पर भी सूत्र रचे गये, जिन में बृहस्पति सूत्र, संभवतः दुर्लभ और प्राचीनतम है। किन्तु चाणक्य के सूत्र अब भी सर्वसुलभ हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र भी सूत्रमय ही है। पर व्याकरण और न्याय आदि के सूत्रों से ये भिन्न हैं। इनमें प्रायः प्रत्येक सूत्र क्रियापद से संयुक्त होकर स्वयं में पूर्ण है, जब कि व्याकरण, न्यायादि के सूत्रों में ऐसा नहीं है। किन्तु यह तो रचनाक्रम के विकास के अनुकूल हुआ है। इससे इन सूत्रों की महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। इसी सूत्रप्रणाली का आलम्बन कर सोमदेव ने भी नीतिशास्त्र का सुन्दर प्रणयन किया। इनके समय तक सूत्रों का अच्छा प्रचार रहा। इन्होंने मनु के एक सूत्र का उद्धरण दिया है। स्यात् वह मूल सूत्र न हो, मनु के मत का उल्लेख हो—जो मनु ने इस विषय पर दिया है। जो भी हो सोमदेव विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने उस समय सुलभ समस्त शास्त्रों का सम्यक् अनुशीलन किया था और नीतिसम्बन्धी प्राप्य यावत् सामग्री का विशेषरूप से अध्ययन किया था। उनके विषय में वर्तमान युग के प्रसिद्ध

इतिहासकार दिवङ्गत काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने हिन्दूराज्यतन्त्र में लिखा है,[1]

..."इसी प्रकार ईसवी दसवीं शताब्दी के सोमदेव का रचा हुआ नीति-वाक्यामृत भी सूत्रों में ही है। इसमें प्राचीन आचार्यों की अनेक उत्तम बातों का संग्रह है। ये सूत्र साधारणतः उद्धरण मात्र हैं, जिन्हें इस जैन ग्रन्थकार ने "राजनीतिक सिद्धान्तों का अमृत' बतलाया है; और उनका यह कथन बहुत कुछ ठीक भी है"।

इस उद्धरण से दो ऐतिहासिक तथ्य अवगत होते हैं। प्रथम यह कि सोमदेव दसवीं शताब्दी के प्राचीन लेखक हैं और दूसरा यह कि इन्होंने पूर्ववर्ती नीति-शास्त्र के आचार्यों के ग्रन्थों का भलीभांति अध्ययन और मनन करने के अनन्तर 'नीतिवाक्यामृतम्' की रचना की। इस प्रकार तुलसीदास की रामायण में हम को जो नानापुराण-निगमागम-सम्मत सामग्री मिलती है, नीतिशास्त्र के विषय में वैसी ही सामग्री हम को सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृतम्' में सहजरूप से सुलभ होती है।

इन्होंने स्वरचित यशस्तिलकचम्पू के तृतीय आश्वास में लिखा है, "मम गुरु-शुक्र-विशालाक्ष-परीक्षित्-पराशर-भीम-भीष्म-भारद्वाजादि-प्रणीत-नीति-शास्त्र-श्रवणसनाथं-श्रुतिपथमभजन्त।"

इसमें परिगणित आठ आचार्यों के साथ आदि पद का प्रयोग अनेक अन्य नीतिशास्त्राचार्यों की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस व्यापक अध्ययन के अनन्तर नीतिवाक्यामृतम् की रचना से स्वयं ही उसका महत्त्व अधिक हो जाता है। नीतिवाक्यामृतम् की एक संस्कृत टीका से अवगत होता है कि कान्य-कुब्जेश्वर महाराज श्री महेन्द्रदेव ने अन्यान्य नीतिशास्त्रों को दुर्बोध देखकर श्री सोमदेव को सरल नीतिशास्त्र की रचना के लिये प्रेरणा प्रदान की और तदनुसार इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई।

सोमदेवसूरि वाद-विवाद में निपुण और अनेक विषयों के महापण्डित थे। यशस्तिलक चम्पू का गद्य-पद्य इनके प्रौढ पाण्डित्य का परिचायक है। द्वितीय आश्वास में वर्णित एक प्रसंग से इनके ज्योतिषशास्त्र के पांडित्य का ज्ञान होता है। इनके ज्येष्ठ भ्राता भी उत्तम कोटि के विद्वान् थे और इनके गुरु थे श्रीनेमिदेव जिनकी चरणाराधना बड़े-बड़े तार्किकशिरोमणि किया करते थे। तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार इनको सभा-समितियों और विद्वन्मण्डल तथा राज-मण्डल से स्याद्वादाचल सिंह, तार्किक-चक्रवर्त्ती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोल

---

१. हिन्दू पालि टीका रामचन्द्रवर्मा कृत अनुवाद प्रथम खण्ड।

पयोनिधि, कविकुलराज आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं और इन्होंने षण्णवति-प्रकरण, युक्तिचिन्तामणि सूत्र, महेन्द्रमातलिसंजल्प, यशोधरमहाराजचरित इन ग्रन्थों के लिखने के अनन्तर नीतिवाक्यामृत लिखा था। पण्डितराज जगन्नाथ की तरह यह भी एक स्वाभिमानी मनीषी थे किन्तु इसके साथ ही शिष्टाचार की भी इनमें कमी न थी। यह छोटे-मोटे पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ आदि में नहीं प्रवृत्त होते थे। इस प्रसंग के श्लोक जो नीतिवाक्यामृतम् की प्रशस्ति में लिखे गये हैं निम्नाङ्कित हैं—

"अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता, मान्ये महानादरः
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढिप्रगाढाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक् कृतान्तायते॥

सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत् त्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम्॥

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग् विवादे।
श्री सोमदेवमुनिपे वचनारसाले
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले॥"

इन श्लोकों से इनकी निज की प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है जिससे यह उदात्तचरित्र के आत्माभिमानी और वाद-विवाद में अपराजेय प्रतिभावाले व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार यशस्तिलकचम्पू में भी इन्होंने अनेक पद्य अपने परिचय के विषय में लिखे हैं। उदाहरणार्थ एक श्लोक निम्नाङ्कित है—

"मया वागर्थसम्भारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः॥"

इनकी प्रौढ विद्वत्ता की पुष्टि के लिये यशस्तिलकचम्पू पर्याप्त है। उसके गद्य और पद्यों की भाषा कादम्बरी के जोड़ की है और सूक्तियाँ सरस तथा नीतिपूर्ण होने के कारण बड़ी ही मनोहारिणी हैं। इनके पद्यों में प्रसाद गुण के साथ प्रौढ़ तर्क और दृष्टान्त भी हैं जिनके कारण वे हृदय में अपना स्थान सद्यः बना लेते हैं। यशस्तिलक से उद्धृत निम्न सूक्ति कितनी मार्मिक है—

"येषां बाहुबलं नास्ति येषां नास्ति मनोबलम् ।
तेषां चन्द्रबलं देव किं कुर्यादम्बरे स्थितम् ॥"

इनके वर्णन अपनी स्वाभाविकता के कारण भी मनोरम हैं। द्वितीय आश्वास में इन्होंने शिशु-क्रीड़ा के प्रसङ्ग में पाँच पद्य लिखे हैं जो किसी भी सहृदय के हृदय को आवर्जित किये बिना नहीं रह सकते। यहां एक श्लोक उद्धृत है—

"स्वल्पं रिङ्गति जानुहस्तचरणः किञ्चित्कृतालम्बनः
स्तोकं मुक्तकराङ्गुलिः परिपतन् धात्र्या नितम्बे धृतः।
स्कन्धारोहणजातधीः पुनरयं तस्याः कचाकर्षणे
क्रूरालोकनकोपकल्मषमनास्तद्वक्त्रमाहन्ति च ॥"

यशस्तिलक का तृतीय आश्वास अधिकांश राजनीति के उपदेशों से पूर्ण है और किन्हीं स्थलों पर तो 'नीतिवाक्यामृतम्' से उसके वर्णन एकरस और समरस हैं।

इस प्रकार अब तक इनकी जो रचनाएं सर्वसाधारण को सुलभ हो सकी हैं उनसे इनके व्यापक और प्रौढ पाण्डित्य की पुष्टि होती है। नीतिवाक्यामृतम् अपनी विशिष्ट सूत्रशैली, अर्थगाम्भीर्य और अनुभवपूर्ण उक्तियों के कारण बहुत ही उपादेय ग्रन्थ है। अनेक स्थलों पर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पाठ भेद पाये जाते हैं, जिनका निर्णय करने के लिये अनुसन्धान आवश्यक है। इस ग्रन्थ का अध्ययन कर मनुष्य सहज ही सांसारिक व्यवहार में कुशलता प्राप्त कर सुख पूर्वक अपनी संसार-यात्रा का निर्वाह कर सकता है। वह सहसा भ्रम और वञ्चना का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। शास्ता और शासित विनेता और विनयी, अर्थ, धर्म और काम तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ सबके लिये यह सुन्दर और सारवान् चिन्तन सामग्री प्रस्तुत करता है। अतः इस ग्रन्थ का सर्वसाधारण में प्रचार आवश्यक है। नीतिवाक्यामृत की एक हिन्दी टीका हो चुकी है जो बहुत विस्तृत और बहुमूल्य है। वह इस समय प्राप्य नहीं है। मैंने आज से ३–४ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ को देखा था और तभी से मेरे मन में यह उत्कण्ठा थी कि इसे सर्व साधारण के लिये सुलभ किया जाना राष्ट्र के अभ्युत्थान की दृष्टि से श्रेयस्कर होगा। किन्तु मैं अपने अलस स्वभाव के कारण व्यावहारिक रूप से कुछ कर सकने में असमर्थ रहा। एक दिन जब मैं अपने मित्र श्रीअमृतलालजी जैन, जैनदर्शनाध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से सोमदेव की प्रशंसा करते हुए इस ग्रन्थ की चर्चा कर रहा था तब उन्होंने मुझे इसका हिन्दी अनुवाद करने के लिये प्रोत्साहित ही नहीं किया प्रत्युत इस

कार्य को शीघ्र से शीघ्र पूरा कर देने के लिये प्रेरित करते हुए साहित्यिक साधन भी उपलब्ध किये, किन्तु मुझे खेद है कि मैं अपने मित्र के अभिलाष के अनुकूल आचरण न कर सका और विलम्ब करता रहा। मैं इन सौजन्यमूर्त्ति का आभारी हूँ कि इन्होंने अपनी उदारवृत्ति के कारण कभी भी खीझ का अनुभव नहीं किया और मुझे बराबर प्रेरित ही करते रहे। मैंने इसका गभीर अध्ययन नहीं किया है और यावद्बुद्धि इसका हिन्दी अनुवाद अन्य कार्यों की व्यस्तता के साथ सम्पन्न किया है। कहीं अर्थ का अनर्थ भी हुआ होगा। पर मेरी इच्छा है कि इसके पाठान्तरों का कई प्रतियों से मिलान कर तथा ग्रन्थकार के समय आदि के विषय में सम्यग् अध्ययन कर मैं इसका प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करूं अतः तब तक विद्वज्जन मुझे इसकी त्रुटियों के विषय में सूचित करते रहें और मुझे मेरी भूलों के लिये क्षमा करें।

अनुवाद करते समय वर्त्तमान किन्तु सम्प्रति दिवङ्गता मेरी साध्वी धर्मपत्नी ने जो सुख सुविधा तत्काल प्रदान की थी तदर्थ उसकी सौम्य मूर्त्ति संगमरमर की शुभ्रशिला पर कुशल शिल्पी द्वारा उत्कीर्ण जीवन्त प्रतिमा के समान मूर्त्तिमती हो उठी है और उसके लिये मैं उसको इस समय सप्रेम स्मरण करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के अध्यक्ष महोदय ने जो तत्परता और उदारता बरती है वह उनकी शालीनता, संस्कृत भाषा के प्रसार के प्रति सजीव निष्ठा और सदाशयता के अनुरूप ही है अतः उनसे उपकृत अनेकानेक विद्वज्जनों की भाँति मैं भी उनके प्रति अपना हार्दिक हर्षभार प्रकट करता हुँ।

दीपावली
सं० २०२९

—रामचन्द्र मालवीय

विषय-क्रम

॥ श्रीः ॥

नीतिवाक्यामृतम्

मङ्गलाचरणम्

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥ १ ॥

कीर्त्तिमान्, कुबेर के समान आकृतिवाले, चन्द्रतुल्य कान्तिवाले तथा सोमवंश में अथवा सोम नामक व्यक्तिविशेष से समुत्पन्न सोमदेव मुनि को नमस्कार कर मैं अमृतमय नीतिवाक्यों को कहता हूँ।

विशेषार्थ—उमा शब्द कीर्त्ति का वाचक है उससे संयुक्त जो हो वह सोम अतः सोमं का अर्थ कीर्त्तिमान् है।

ग्रन्थकर्त्ता से पूर्ववर्त्ती शुक्र और बृहस्पति ने अपने नीतिग्रन्थ के प्रारम्भ में राज्य की और आंगिरस मुनि की बन्दना की है अतः उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकर्त्ता ने अपने इस नीतिग्रन्थ में प्रथमतः सोमदेव मुनि की वन्दना की है। श्लेष से इसमें ग्रन्थकर्त्ता के नाम सोमदेव का भी संकेत है।

नीतिवाक्यामृत के एक टीकाकार ने इस श्लोक से ब्रह्मा, विष्णु और शिव की वन्दना का अर्थ किया है जो संस्कृत टीका में शब्दों की विभिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार संगत है। हिन्दी में वैसा अर्थ करना संगत न होगा।

१. धर्मसमुद्देशः

राज्यवन्दना—

अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ॥ १ ॥

धर्म-अर्थ और काम की सिद्धि करनेवाले राज्य को नमस्कार है।

विशेषार्थ—अथ शब्द मंगलात्मक और ग्रन्थारम्भ का सूचक है।

शुक्राचार्य ने अपने नीतिशास्त्र के प्रारम्भ में इसी प्रकार राज्य को वन्दना की है। उन्होने राज्य को सुन्दर वृक्ष कहा है जिसकी—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय रूप षड्गुण शाखाएँ हैं, साम, दाम, दण्ड और भेद मनोहर पुष्प हैं और धर्म, अर्थ और काम फल हैं।

नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने ।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥

नीति-ग्रन्थ के प्रारम्भ में राज्य की वन्दना बड़ी उपयुक्त और सुन्दर कल्पना है ।

धर्म का लक्षण—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

जिससे मानव का अभ्युदय और कल्याण हो वह धर्म है ।

विशेषार्थ—महर्षि कणाद के मत से अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है । इस प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा दुःख की अत्यन्त निवृत्ति धर्म है, महर्षि गौतम के अनुसार अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग और निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष जिससे प्राप्त हो वह धर्म है । मीमांसकों के 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' इस सूत्र के अनुसार वेदों के द्वारा प्रतिपादित कर्म ही धर्म है । किन्तु वेदों के द्वारा उपदिष्ट क्या सभी कर्म अविचारणीय और आवश्यक रूप से कर्त्तव्य हैं ऐसा कहकर इस मत का खण्डन भी किया जाता है ।

अधर्म का लक्षण—

अधर्मः पुनरेतद् विपरीतफलः ॥ ३ ॥

जिस कार्य का फल अभ्युदय और निःश्रेयस् से विपरीत हो वह अधर्म है ।

धर्मप्राप्ति के उपाय—

आत्मवत् परत्र कुशलचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः ॥ ४ ॥

अपने ही समान दूसरे के कुशल और कल्याण का चिन्तन तथा शक्ति के अनुसार त्याग, तपस्या करना धर्म की प्राप्ति के साधन हैं ।

श्रेष्ठ आचरण—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ॥ ५ ॥

जीव-मात्र पर समता अर्थात् निर्वैरता का भाव समस्त शुभ आचरणों में श्रेष्ठ आचरण है ।

जीवद्रोहियों की दशा का वर्णन—

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥ ६ ॥

जीवों से द्रोह करनेवाले व्यक्ति की कोई भी क्रिया कल्याण-कारिणी नहीं होती ।

विशेषार्थ—जीव चार प्रकार के हैं—स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और

जरायुज—इन पर जो दयाभाव न रखकर द्रोह अथवा हिंसा का भाव रखता है उसके स्नान-दान-जप आदि समस्त शुभाचरण व्यर्थ होते हैं।

अहिंसक होने का फल—

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ७ ॥

(दूसरों पर अहिंसा का भाव रखनेवाले व्यक्ति का व्रत-हीन भी जीवन स्वर्गदायक होता है।)

असत् त्याग का लक्षण—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥ ८ ॥

जिस त्याग-कार्य से अपनी दुर्दशा हो जाय वह त्याग का कार्य देश-त्याग करा देता है।

विशेषार्थ—इस सूत्र का स्पष्टीकरण शुक्रनीति के निम्न-श्लोक में देखिए,

आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः।
दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ॥

अविवेकी याचक की निन्दा—

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥ ९ ॥

वह याचक निश्चय ही शत्रु है जो दूसरे की दरिद्रावस्था को जानते हुए भी उससे धन की याच्ञा करता है।

व्रत-ग्रहण से पूर्व विचार की आवश्यकता—

तद् व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥१०॥

उस व्रत-नियम आदि का पालन करना चाहिए जिससे शरीर और मन को क्लेश न हो।

विशेषार्थ—यही आशय 'चारायण' के निम्न श्लोक में भी अभिव्यक्त हुआ है।

अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियममेव वा।
करोत्यार्त्तो भवेत् पश्चात् पश्चात्तापात् फलच्युतिः ॥

वास्तविक त्याग का लक्षण—

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥ ११ ॥

जिस अर्थ-व्यय अथवा त्याग से इहलोक, परलोक दोनों के ही फल का लाभ हो वही वास्तविक त्याग है।

अपात्र में दान की निन्दा—

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥ १२ ॥

अपात्र अथवा कुपात्र के निमित्त अर्थ का व्यय करना राख के ढेर में आहुति देने के समान है।

पात्रभेद—

पात्रञ्च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रञ्चेति ॥ १३ ॥

पात्र तीन प्रकार के हैं धर्म पात्र कार्य पात्र और कामपात्र।

विशेषार्थ—जिनकी शिक्षा दीक्षा और सदाचार से हम सत्पथ पर आरूढ हों वह धर्मपात्र हैं। जिनसे सांसारिक कार्य सिद्ध हों वह कार्यपात्र हैं और अपनी गृहिणी काम पात्र है क्योंकि उसके द्वारा इहलोक-परलोक दोनों बनता है।

कीर्ति कैसी हो?—

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्त्ति प्रतिरुणद्धि वा धर्मम्। भागीरथी-श्री-पर्वतवद् भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः। यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥ १४ ॥

जिससे आश्रितों का भरण-पोषण न हो सके और जो धर्म के प्रतिकूल हो उस कीर्त्ति से क्या लाभ है।

गंगा, लक्ष्मी और विन्ध्य हिमालय आदि पर्वत विशेष के समान प्रसिद्धि का कारण कुछ दूसरा ही होता है, त्याग नहीं। क्योंकि लाभान्वित होनेवाले व्यक्ति व्यापक और सनातन नहीं होते।

विशेषार्थ—अर्थात् धूर्त्त खुशामदी शराबी और दुराचारिणी स्त्रियां आदि यदि हम से द्रव्य पाकर हमारी प्रशंसा करते फिरें और हमारे कुटुम्बी भूखों मरें तो हमारी वह कीर्ति व्यर्थ है। दुष्टों का उत्कर्ष करने वाली यह कीर्त्ति धर्म विरोधिनी भी स्पष्ट है।

धन की सार्थकता के विषय में—

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥ १५ ॥

जिस धनमें से शरणागतों को विभाग न किया जाय ऐसा धन किसी को न हो।

एकान्त लोभी की निन्दा—

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥ १६ ॥

याचकों को दान देना और स्वयम् उपभोग करना, अर्थ के ये ही दो प्रयोजन हैं। एकान्त लोभी व्यक्ति के धन का कोई "औचित्य" नहीं है।

औचित्य की परिभाषा—

दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ॥ १७ ॥

दान और प्रिय वचनों से दूसरे को सन्तुष्ट करने को औचित्य कहते हैं।

लोभी कौन है—

स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥ १८ ॥

सच्चा लोभी तो वह है जो सत्पात्र को दान देने के कारण अपनी धनराशि को जन्मान्तर में भी अपने साथ ले जाता है।

विशेषार्थ—व्यंग्यान्तर से वह सत्पात्र में अर्थ के उपयोग की प्रशंसा है। भारतीय चिन्तन के अनुसार सत्पात्र में दिया दान अक्षय होकर जन्मान्तर में मिलता है।

दान न देकर मीठी बातों से याचक को रोक रखने की निन्दा—

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥ १९ ॥

याचक को दान न देने वाला व्यक्ति यदि उसे अपने प्रिय वचनों से रोक रखता है तो उस याचक को अन्य स्थान से मिल सकने वाले दान की हानि करता है।

दरिद्र असहाय होता है—

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥ २० ॥

सदा दुर्दशा में पड़े हुए का सहायक कोई नहीं होता।

याचक के दोष—

नित्यमर्थयतां को नाम नोद्विजते ॥ २१ ॥

सदा मांगनेवालों से कौन नहीं घबड़ाता।

विशेषार्थ—बहुत देर तक दूध पीते रहने वाले बछड़े को गाय भी सींग मार कर हटाती है, "अपि वत्समतिपिबन्तं विषाणैरधिक्षिपति धेनुः" ॥

तप क्या है—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥ २२ ॥

नियमों के अनुष्ठान से इन्द्रियों और मन को वश में करना ही तप है।

नियम क्या है—

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥ २३ ॥

शास्त्रों में विहित आचार का परिपालन और निषिद्ध आचार का परित्याग ही नियम है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य में शास्त्र की प्रामाणिकता—

विधि-निषेधावैतिह्यायत्तौ ॥ २४ ॥

विधि और निषेध ऐतिह्य (आगमों) के अधीन हैं। अर्थात् कौन सा कार्य करना चाहिए कौन नहीं करना चाहिए इसका ज्ञान शास्त्रों से प्राप्त करे।

विशेषार्थ—साङ्ख्य शास्त्र में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। नैयायिक इन तीनों के साथ उपमान को भी प्रमाण मानते हैं। वेदान्ती और मीमांसक इन चारों के साथ अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं। पौराणिक इनके अतिरिक्त 'ऐतिह्य' को भी प्रमाण मानते है। जो बात परम्परा से कही सुनी जाती हो और उसका कोई निश्चित वक्ता न कहा जा सके वही ऐतिह्य है। जैसे इस पेड़ पर भूत रहता है। इस मन्दिर के देवता रात को गाँव के चारों ओर घूमते हैं यह लोकापवाद "ऐतिह्य" है। नीतिवाक्यामृत के इस ऐतिह्य का अर्थ जनश्रुति ही है। इसीलिए इसके अग्रिम सूत्र में कहा जा रहा है—

किस तरह के शास्त्र प्रमाण मानने चाहिए—

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयम् ऐतिह्यम्, यत्र न प्रमाणबाधा पूर्वापर-विरोधो वा ॥ २५ ॥

सत्पुरुषों को उसी ऐतिह्य पर श्रद्धा करनी चाहिए जो प्रमाणों के प्रतिकूल न हो और जिसमें पूर्वापर विरोध न होता हो।

चंचल मनवाले के नियमाचार की व्यर्थता—

हस्तिस्नानमिव सर्वानुष्ठानम्, अनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२६॥

जिस पुरुष की इन्द्रियां और मन के व्यापार नियमित नहीं हैं उस की समस्त सत् क्रिया हाथी के स्नान की तरह है।

विशेषार्थ—हाथी नहाने के बाद पुनः अपनी सूंड से अपने ऊपर धूल डालकर गन्दा हो जाता है। इसी प्रकार चंचल मन और इन्द्रिय वाले व्यक्ति शुभानुष्ठान के साथ असदनुष्ठान कर अपना शुभ अनुष्ठान व्यर्थ कर देते हैं।

ज्ञान के अनुकूल स्वयं आचरण न करने की निन्दा—

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयम् अनाचरतः ॥ २६ ॥

ज्ञान प्राप्त कर स्वयम् उसके अनुकूल आचरण न करने वाले व्यक्ति का ज्ञान पति का प्रेम और आदर न प्राप्त कर सकने वाली अभागिनी स्त्री के आभूषण धारण के समान व्यर्थ देह-क्लेश-कारक ही होता है।

(प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता—कालिदास)

परोपदेश की सहजता—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥ २८ ॥

देवालयों में कथा बांचने वाले की तरह दूसरों को धर्मोपदेश करने वाले व्यक्ति सर्वत्र सुलभ होते हैं।

प्रतिदिन के दान और तप की महिमा—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥ २९ ॥

प्रतिदिन नियम पूर्वक कुछ न कुछ दान और तपस्या करनेवाले व्यक्ति को निश्चय ही महान् परलोक प्राप्त होते हैं।

प्रतिदिन का स्वल्प संचय भी विशेष फलवान् होता है—

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥ ३० ॥

नित्य संचय करते रहने पर छोटी से छोटी वस्तु भी समय पाकर सुमेरु बन जाती है।

धर्म, ज्ञान और धन का प्रतिदिन सङ्ग्रह करना चाहिए—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि सङ्गृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥ ३१ ॥

धर्म, ज्ञान और धन का प्रतिदिन लेशमात्र भी सङ्ग्रह करते रहने पर समुद्र से भी अधिक हो जाता है।

नित्य धर्माचरण न करने के दोष—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवञ्चनं भवति ॥ ३२ ॥

धर्म के निमित्त नित्य कुछ न करना आत्मवञ्चना है।

पुण्य प्राप्ति के लिये नित्य प्रयत्न करना चाहिए—

कस्य नाम एकदैव संपद्यते पुण्यराशिः ॥ ३३ ॥

एक बार ही किस को पुण्यराशि प्राप्त हो जाती है? अर्थात् अनायास ही किसी को पुण्य-पुंज नहीं प्राप्त हो सकता धीरे-धीरे क्रमशः पुण्य करते रहने पर ही पुण्य-पुञ्ज एकत्र होता है।

अनुद्योगी के मनोरथों की निन्दा—

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥ ३४ ॥

उद्यम न करने वाले व्यक्ति के मनोरथ स्वप्न में प्राप्त राज्य के समान क्षणिक होते हैं।

धर्म के लाभ जानते हुए भी अधर्माचार की निन्दा—

धर्मफलमनुभवतोऽप्यधर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥ ३५ ॥

जो धर्म के फल का उपभोग करता हुआ भी अधर्म करता है वह मूर्ख है।

बुद्धिमान् व्यक्ति धर्माचार में स्वयं ही प्रवृत्त होता है—

कः सुधी भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥ ३६ ॥

कौन बुद्धिमान् औषध के समान आत्महितकारी धर्म को दूसरे के अनुरोध से करता है ? अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति स्वयं ही धर्माचरण में प्रवृत्त होते हैं।

धर्माचरण की कठिनाइयां—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य ॥ ३७ ॥

धर्म का अनुष्ठान करते समय विघ्न बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं।

पापकर्म में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ? ॥ ३८ ॥

अधर्म के काम में कौन नहीं स्वयम् उपाध्याय और अग्रसर होता।

अधर्म करने के लिये किसी उपदेशक और मुखिया की आवश्यकता नहीं होती मनुष्य स्वयम् ही उस ओर प्रवृत्त होता है।

चतुर व्यक्ति का कर्त्तव्य—

कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥ ३९ ॥

प्राण कण्ठ को भी आ जाय तब भी बुद्धिमान् पुरुष को निन्दित कर्म नहीं करना चाहिए।

धूर्तों का धनिकों को पाप कर्म में प्रवृत्त करना—

व्यसनतर्पणाय धूर्त्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥ ४० ॥

अपने दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिये धूर्त्त लोग धनिकों को पापमार्ग पर प्रवृत्त करते हैं।

दुष्ट की संगति त्याज्य है—

खलसंगमेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ? ॥ ४१ ॥

दुष्ट की संगति से कौन सा अनिष्ट नहीं होता है।

दुर्जन निन्दा—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार अग्नि अपने आधार काष्ठ को जलाकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार दुष्ट पुरुष भी अपने आश्रयदाता का नाश कर डालते हैं।

क्षणिक सुख के लोभ की निन्दा—

वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ? ॥ ४३ ॥

जंगली हाथी के समान तात्कालिक सुख के लोभ में पडकर कौन व्यक्ति आपत्तिग्रस्त नहीं होता ?

विशेषार्थ—हाथी पकड़ने वाले व्यक्ति एक शिक्षित हथिनी को जंगल में छोड़ देते हैं बनैला हाथी उसके स्पर्श सुखका अनुभव करता हुआ बन्धन में पड़ जाता है इसी प्रकार पराई स्त्री के स्पर्शादि के क्षणिक सुख के लोभ में पड़ा व्यक्ति भी दुर्गति को प्राप्त होता है।

धर्माचरण से विमुख होने के दोष—

धर्मातिक्रमाद् धनं परेऽनुभवन्ति स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥ ४४ ॥

सिंह हाथी का वध करके छोड़ देता है और उसे सियार आदि खाते हैं इसी प्रकार धर्म का उल्लङ्घन कर मनुष्य चोरी आदि दुष्कर्मों से धन प्राप्त करता है और उस धन का उपभोग उसके पुत्र पौत्रादि करते हैं परन्तु पाप का भागी वह मनुष्य होता है।

धर्महीन व्यक्ति का भविष्य—

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ॥ ४५ ॥

बीज के लिये सुरक्षित अन्न को खाकर जिस प्रकार कुटुम्ब-परिवार वाला व्यक्ति परिणाम में दुःख पाता है उसी प्रकार धर्म-हीन व्यक्ति को भी परिणाम में कोई सुख नहीं प्राप्त होता।

अर्थ और काम से रहित केवल धर्मोपासना का अनौचित्य—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥ ४६ ॥

जो पुरुष काम और अर्थ की उपेक्षा कर केवल धर्माचरण में तत्पर होता है वह मानों अपने पके हुए खेत को छोड़कर जंगल को जोतने जाता है।

विशेषार्थ—सुखार्थी को काम और अर्थ के साथ धर्म का सेवन करना चाहिए, इस समान आशय का रैभ्य का श्लोक है,

कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्य एव सुखार्थिभिः॥

सच्चा सुबुद्धि कौन है—

स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४७ ॥

विद्वान् वही है जो परलोक में प्राप्त होने वाले सुख की हानि न हो इस बात का ध्यान रखते हुए इस लोक के सुख का अनुभव करता है।

अन्यायपूर्वक सुख भोग करने का फल—

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दुःखानुबन्धः ॥ ४८ ॥

यहां यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि चोरी आदि अन्याय-कर्म के द्वारा उपार्जित धनादि से सुख का लेश मात्र भी उपभोग इस लोक और परलोक में भी निरवधि दुःखदायक होता है। यहां राजदण्ड वहां धर्मराज का।

धर्मी और अधर्मी की पहचान—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥ ४६ ॥

इस जन्म में जीवों के सुख और दुःख का उत्कर्ष तथा अपकर्ष देखकर उसके द्वारा पूर्वजन्म में किये गये धर्म-अधर्म की पहचान होती है।

अदृष्ट (दैव) की व्यापक प्रभुता—

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ॥ ५६ ॥

संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जहां अदृष्ट की प्रभुता न हो।

विशेषार्थ—अदृष्ट—मनुष्य के नित्य के भोजन-पान से उसके शरीर में अलक्ष्य शक्ति सञ्चित होती है उसी के अनुसार वह सांसारिक कार्य करता है विद्युद् गृह में जल प्रपात आदि से भी इसी प्रकार अलक्ष्य विद्युत् शक्ति उत्पन्न होती है जिससे महान् यन्त्र आदि परिचालित होते हैं और प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य के द्वारा नित्य प्रति किये जाने वाले शुभाशुभ कर्म अथवा धर्माधर्म से एक अनिर्वचनीय "अदृष्ट" उत्पन्न होता है जो संचित होता जाता है और उसके अनुसार ही मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में सुख तथा दुःख मिलते रहते हैं।

इति धर्मसमुद्देशः

---

२. अर्थसमुद्देशः

अर्थ का लक्षण—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥ १ ॥

जिससे समस्त कार्य अथवा योजनाएं सिद्ध हों वह अर्थ (धन) है।

धनी कौन होता है—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥ २ ॥

धनी वह होता है जो अर्थानुबन्ध से अर्थ का उपभोग करता है।

अर्थानुबन्ध का लक्षण—

अलब्धलाभो, लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥ ३ ॥

अप्राप्त धन को प्राप्त करना, प्राप्त धन की रक्षा करना और सुरक्षित धन को वृद्धि करना अर्थानुबन्ध है।

अर्थनाश का कारण—

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ॥ ४ ॥

धन के द्वारा जो तीर्थ का सत्कार नहीं करता उसका मधुमक्खी के छत्ते के समान सर्वनाश हो जाता है।

विशेषार्थ—तीर्थ का अर्थ अग्रिम सूत्र में है। मधुमक्खी के छाते में जब मधु अधिक इकट्ठा हो जाता है तो मक्खियाँ उसे स्वयं पी जाती हैं यदि उन्हें न पीने दिया जाय तो भी छत्ते का मधु अपने आप नष्ट हो जाता है या मोम बन जाता है। इसी तरह दान-मान द्वारा तीर्थ की पूजा न की गई तो धनी का धन भी नष्ट हो जाता है।

तीर्थ का लक्षण—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥ ५ ॥

धार्मिक कृत्यों में सहयोग देने वाले और सब कामों में हाथ बटाने वाले पुरुषों को तीर्थ कहते हैं।

किन का धन नष्ट हो जाता है—

तादात्विक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

तादात्विक, मूलहर और कदर्य धनिकों का धन सदा नष्ट हो जाता है।

तादात्विक का लक्षण—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥ ७ ॥

उपार्जित धन को जो बिना विवेक के खर्च करता है उसे 'तादात्विक' कहते हैं।

मूलहर का लक्षण—

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥ ८ ॥

पिता और पितामह से प्राप्त सम्पत्ति को जो अन्यायपूर्वक अर्थात् जुआ, शराब, वेश्यावृत्ति आदि में उड़ाता है वह 'मूलहर' कहा जाता है।

कदर्य का लक्षण—

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥ ९ ॥

सेवकों को और स्वयम् को भी कष्ट में रख कर जो धन का संग्रह करता है उसे 'कदर्य' कहते हैं।

तादात्विक और मूलहर का भविष्य—

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥ १० ॥

तादात्विक और मूलहर का परिणामावस्था में कल्याण नहीं होता।

कदर्य के धनसंग्रह का परिणाम—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥ ११ ॥

कदर्य का अर्थसंग्रह राजा, दायाद और चोरों की निधि है। अर्थात् ऐसा धन चोर, पट्टीदार अथवा राजा के ही काम आता है।

इत्यर्थसमुद्देशः।

---

३. कामसमुद्देशः

काम का स्वरूप—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः॥ १॥

तन्मयता के साथ जिससे समस्त इन्द्रियों को परितृप्ति और प्रसन्नता हो उसे 'काम' कहते है।

विशेषार्थ—काम शब्द का अर्थ इच्छा और अभिलाष है। स्त्री का पुरुष के प्रति, पुरुष का स्त्री के प्रति मिलन का अभिलाष ही धर्म और अर्थ के प्रसङ्ग में काम शब्द का अर्थ है। दूसरे शब्दों में यही अभिलाष अनुराग है। स्त्री पुरुष के अनुराग में एक अनिर्वचनीय स्वाभाविक तल्लीनता होती है जिसका परिचय यहां 'आभिमानिक' शब्द के द्वारा कराया गया है।

काम-सेवा का प्रकार—

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्॥ २॥

धर्म और अर्थ का ध्यान रखते हुए काम का सेवन करने से मनुष्य सुखी रहता है।

"त्रिवर्ग" पालन का क्रम—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत॥ ३॥

त्रिवर्ग का सेवन समरूप से करना चाहिए।

विशेषार्थ—धर्म अर्थ और काम का सम्मिलित नाम त्रिवर्ग है। जितना समय धर्मचिन्तन में लगावें उतना ही अर्थ चिन्तन में तथा काम-चिन्तन में भी लगावे।

अर्थ धर्म और काम में से किसी एक के प्रति अधिक अनुरक्ति का दोष—

एकोह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति॥ ४॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से एक का अधिक सेवन करने से एक की तो वृद्धि होती है किन्तु दो को बाधा पहुँचती है।

आत्म-सुख की अवहेलना कर धनोपार्जन करना अनुचित है—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम्॥ ५॥

अपना सुखभोग त्याग कर धन का उपार्जन करना दूसरे के लिये बोझा ढोने के समान है।

ऐश्वर्य की सफलता—

इन्द्रियमनः प्रसादनफला हि विभूतयः ॥ ६ ॥

ऐश्वर्य का फल इन्द्रियों और मन की प्रसन्नता है। जिस ऐश्वर्य से अपनी इंद्रियां और मन प्रसन्न न रह सके वह ऐश्वर्य व्यर्थ है।

अजितेन्द्रिय होने का दोष—

नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति ॥ ७ ॥

जिन की इन्द्रियां वश में नहीं हैं, उनको किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती।

इन्द्रिय जय का स्वरूप—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥ ८ ॥

प्रिय वस्तु में अधिक आसक्त न होना और प्रतिकूल में प्रवृत्त न होने का नाम इन्द्रिय जय है।

विशेषार्थ—प्रतिकूल कार्य में मनुष्य स्वभावत: नहीं प्रवृत्त होता उसके विषय में यहां विशेष रूप से लिखने का तात्पर्य "कामसमुद्देश" प्रकरण की दृष्टि से यह है कि प्रिय प्रेयसी पर अधिक अनुरक्त न होना और प्रतिकूल पर-दारा के सेवन में प्रवृत्त ही न होना वास्तविक इन्द्रिय विजय है। अथवा प्रिय पर अधिक अनुरक्त न होना और प्रतिकूल से घबड़ाना नहीं इन्द्रियजय का लक्षण है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से "इन्द्रियजय"—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ॥ ९ ॥

अथवा अर्थशास्त्र का अध्ययन भी इन्द्रिय जय का कारण है।

नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि खान्यपि।
वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातैर्हया यथा॥

काम के दोष—

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत ॥ १० ॥

कामदेव को महादेव जी ने भस्म कर दिया था इस लिये उसकी 'अनङ्ग' संज्ञा है। यहां शाब्दिक चमत्कार पूर्वक कहा गया है कि जो बिना अङ्गवाले से भी जीता जा सकता है अर्थात् काम के वशीभूत हो जाता है वह पुष्ट अङ्ग वाले शत्रुओं को कैसे जीत सकता है।

कामी पुरुष असाध्य रोगी है—

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥ ११ ॥

अत्यन्त कामी पुरुष को विनाश से बचाने के लिये कोई चिकित्सा (उपाय) नहीं है।

स्त्रियों पर अत्यासक्ति के दोष—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥ १२ ॥

स्त्रियों पर अत्यन्त आसक्त पुरुष के धन धर्म और शरीर का क्षय हो जाता है।

परस्त्रीगमन के दोष—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥ १३ ॥

विरुद्ध कामवृत्ति अर्थात् परस्त्री में रत पुरुष समृद्धिशाली होते हुये भी चिरकाल तक समृद्धि का उपभोग नहीं कर पाता।

धर्म अर्थ और काम की क्रमिक श्रेष्ठता—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥ १४ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का कार्य एक साथ प्राप्त होने पर क्रमशः पूर्व-पूर्व गुरुतर है काम की अपेक्षा अर्थ और अर्थ की अपेक्षा धर्म का सेवन श्रेष्ठ है।

समयानुसार अर्थसेवन की प्रधानता—

कालसहत्वे पुनरर्थ एव ॥ १५ ॥

(धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्)

यदि धर्म, अर्थ और काम का कर्त्तव्य एक साथ उपस्थित हो और धर्म तथा काम के कर्त्तव्य का पालन समयान्तर में भी किया जा सकता हो तो अर्थ-कर्त्तव्य को ही प्रधानता देनी चाहिए क्योंकि अर्थ समुद्देश के प्रारम्भ में ही कहा गया है—यतः सर्व प्रयोजन सिद्धिः सोऽर्थः। द्रव्य होने पर ही धर्म और काम का सुचारु-संपादन हो सकता है।

इति कामसमुद्देशः

---

४. अरिषड्वर्गसमुद्देशः

राजाओं के छः आभ्यन्तर शत्रु—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥ १ ॥

युक्ति-पूर्वक प्रयोग न करने पर राजाओं के लिये काम, क्रोध, लोभ, मद मान और हर्ष ये छह भीतरी शत्रुसमूह हैं।

कामासक्ति का दोष—

परपरिगृहीतासु, अनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥ २ ॥

दूसरे के द्वारा ग्रहण की गई स्त्री अथवा कुमारी कन्या पर आसक्ति ही काम है।

बिना विचार के क्रोध का फल—

अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतुः क्रोधः ॥ ३ ॥

शत्रु की और अपनी शक्ति का विचार न करके क्रोध कर बैठना राजा के नाश का कारण बन जाता है।

लोभ का स्वरूप—

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥ ४ ॥

जो दान के योग्य हैं उनको दान न देना और दूसरे के धन को ले लेना लोभ है।

मान का स्वरूप—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥

दुराग्रह न छोड़ना और शास्त्रोपदेश तथा शिष्टोपदेश को न स्वीकार करना मान है।

मद का स्वरूप—

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहङ्कारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥

कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदि का अपने में अहङ्कार रखना और दूसरे के उत्कर्ष और अभ्युदय का खण्डन करना मद है।

हर्ष का स्वरूप—

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनः प्रतिरञ्जनो हर्षः ॥ ७ ॥

बिना कारण ही दूसरों को दुःख देना और अर्थसंग्रह से पुलकित होना हर्ष है।

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः

---

५. विद्यावृद्धसमुद्देशः

राजा का लक्षण—

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा ॥ १ ॥

जो अपने अनुकूल आचरण करने वालों के प्रति इन्द्र के समान सुखदायक हो सके और प्रतिकूल आचरण करने वालों के प्रति यमराज के समान कठोर दण्ड दे सके वह राजा है।

राजा का धर्म—

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः ॥ २ ॥

दुष्टों का दमन और शिष्ट पुरुषों की रक्षा राजा का कर्त्तव्य है।

राजा के अयोग्य कार्य—

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं वा ॥ ३ ॥

शिर मुंडाना अथवा जटा आदि धारण करना राजा का काम नहीं है।

राज्य का स्वरूप—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यम् ॥ ४ ॥

पृथ्वी पर रहने वालों का पालन-पोषण सम्बन्धी कार्य करते रहना ही राजा का राज्य है।

पृथ्वी का सच्चा स्वरूप—

वर्णाश्रमवती धान्य-हिरण्य-पशु-कुप्य-वृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ॥५॥

जिस पर चारों वर्ण और चारों आश्रमों के लोग रहते हों अनेक प्रकार के अन्न जिस पर उत्पन्न हों, और सोना-चांदी, तरह-तरह के पशु पक्षी और तांबा आदि अन्य धातुओं की प्रचुर मात्रा में जहाँ प्राप्ति हो वह पृथ्वी है।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राश्च वर्णाः ॥ ६ ॥

"आश्रम" के भेद—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थी यतिरित्याश्रमाः ॥ ७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम हैं।

"उपकुर्वाणक" ब्रह्मचारी का स्वरूप—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥ ८ ॥

जो वेदाध्ययन करने के अनन्तर विवाह करे उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते हैं।

(स्नान की शास्त्रीय परिभाषा)

स्नान विशेष का लक्षण—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः ॥ ९ ॥

विवाह संस्कार की दीक्षा के समय विशेष प्रकार के मन्त्रों से किया गया अभिषेक-जल-प्रोक्षण स्नान है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का स्वरूप—

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥ १० ॥

जो मृत्युपर्यन्त विवाह न करे वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है।

पुत्र की परिभाषा—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥ ११ ॥

उत्पन्न होकर जो अपने सदाचार आदि से कुल को पवित्र करे वह पुत्र है।

कृतुप्रद ब्रह्मचारी का लक्षण—

कृतोद्वाहः कृ (ऋ) तु प्रदाता कृतुप्रदः ॥ १२ ॥

विवाह करके ऋतुकाल में जो स्त्री गमन करता है उसकी कृतुप्रद (कृतप्रद) संज्ञा है।

पुत्रोत्पत्ति के अभाव में ऋणग्रस्त की दशा का होना—

अपुत्रो ब्रह्मचारी पितृणामृणभाजनम् ॥ १३ ॥

जो ब्रह्मचारी पुत्रोत्पादन नहीं करता वह पितरों का ऋणी बना रहता है।

अनध्ययनो ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन न करे तो वह ब्रह्मा के प्रति ऋणी होता है।

अयजनो देवानाम् ॥ १५ ॥

जो ब्रह्मचारी यज्ञ नहीं करता वह देवताओं का ऋणी होता है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये आत्मा ही पुत्र है—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥ १६ ॥

मृत्यु पर्यन्त विवाह न करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये आत्मा ही पुत्र है।

विशेषार्थ—आत्मचिन्तन करने के कारण वह पुत्र न उत्पन्न करने आदि के उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाता है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी की उत्तम पवित्रता—

अयमात्मनात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततामापद्यते ॥ १७ ॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का यह व्यापक ब्रह्ममय आत्मा, आत्मशक्ति के द्वारा अपने आत्मा में आत्मचिन्तन करता हुआ अत्यन्त पवित्र हो जाता है।

गृहस्थ का लक्षण और उसके नित्य नैमित्तिक धर्म—

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥ १८ ॥

जो नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठान करता हो वह गृहस्थ है।

ब्रह्मदेवपितृतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥ १९ ॥

यथाशक्ति परब्रह्म की आराधना, इष्ट देव की पूजा, पितरों को तर्पण, अतिथि का भोजन आदि से सत्कार और वैश्वदेवों को बलि देना इनको नित्य अनुष्ठान कहते हैं।

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥ २० ॥

अमावास्या और पूर्णिमा आदि विशेष तिथियों पर किया जाने वाला श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्य नैमित्तिक कर्म है।

वैवाहिक·शालीनो·यायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥ २१ ॥

वैवाहिक, शालीन, यायावर और अघोर ये चार प्रकार के गृहस्थ हैं।

विशेषार्थ—प्राचीनकाल में अग्नि की ही प्रधान उपासना थी। यहां अग्नि के ही प्राधान्य-अप्राधान्य से गृहस्थ के चार भेद किये गये हैं। जिसके जीवन में विवाह के अवसर की होमाग्नि ही अभिवन्द्य हुई हो वह वैवाहिक गृहस्थ है। शालीन वह है जिसने अग्निहोत्र व्रत लिया हो, ऐसा गृहस्थ जिसने अग्नि की उपासना के साथ शूद्र का धन न लेने का व्रत लिया हो वह यायावर और जो दक्षिणादान के साथ अग्निष्टोम आदि यज्ञ में तत्पर रहता हो वह अघोर संज्ञक गृहस्थ है।

वानप्रस्थ का लक्षण—

यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥ २२ ॥

जो गृहस्थ लौकिक आहार-विहार और सांसारिक व्यवहार का परित्याग कर स्त्री के साथ अथवा बिना स्त्री के विधिपूर्वक वन चला जाता है वह वानप्रस्थ है।

यति का लक्षण—

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते स यतिः ॥ २३ ॥

स्वदेह मात्र से आनन्दित रहने वाला जो व्यक्ति ज्ञानरूपी नौका को प्राप्त कर तृष्णा-रूपी नदी को पार करने को योग मानकर उस योग के लिये यत्न करता है वह यति है।

राज्य के मूल कारण और उनकी परिभाषा—

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ॥ २४ ॥

वंश-परम्परा से राज्य प्राप्ति और शौर्य से उसका संरक्षण यह दो क्रम और विक्रम राज्य के मूल हैं।

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥ २५ ॥

वंश परम्परा से प्राप्त राज्य की वृद्धि कुलाचार पालन से होती है।

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

पराक्रम की शोभा गर्व न करने में है।

राज्य की सुरक्षा का उपाय—

क्रम-विक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः ॥ २७ ॥

क्रम और विक्रम इन दोनों में से केवल एक को स्वीकार करने से राज्य के लिये अच्छा परिणाम नहीं होता।

विशेषार्थ—केवल आचार पालन से राज्य में दुष्टों की वृद्धि होगी और

अत्यधिक पराक्रम-से लोग उद्विग्न हो जायंगे अतः क्रम-विक्रम दोनों के ही आश्रय से राज्य सुरक्षित रह सकता है।

बुद्धिमान् राजा का लक्षण—

क्रम-विक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥ २८ ॥

बुद्धिमान् राजा क्रम-विक्रम दोनों का आश्रय लेता है। अथवा वह अत्यन्त दृढ़ संकल्प या निश्चय वाला होता है।

राजा के लिये विद्या और विनय की आवश्यकता—

यो विद्या विनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥ २९ ॥

शास्त्र ज्ञान के कारण विनीत बुद्धि वाला बुद्धिमान् है।

केवल पुरुषार्थ की निन्दा—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ॥ ३० ॥

सिंह के समान केवल पराक्रम करनेवाले राजा का स्थायी-कल्याण नहीं होता।

बुद्धिबल होने पर भी शास्त्रज्ञान की आवश्यकता—

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वशः ॥ ३१ ॥

बिना शस्त्र के शूर के समान बिना शास्त्रज्ञान के बुद्धिमान् भी राजा शत्रु के वश हो जाता है।

शास्त्र तीसरे नेत्र हैं—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥ ३२ ॥

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आंखों से जिस का ज्ञान हो सके उसके ज्ञान के लिये शास्त्र तीसरे नेत्र के समान हैं।

शास्त्र न पढ़ने के दोष—

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥ ३३ ॥

शास्त्र न पढ़ा हुआ पुरुष आंख वाला होते हुए भी अन्धा है।

मूर्ख पुरुष की निन्दा—

न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति ॥ ३४ ॥

मूर्ख पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कोई पशु नहीं है।

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ॥ ३५ ॥

विना राजा का राज्य होना अच्छा है, किन्तु मूर्ख राजा का होना अच्छा नहीं है।

असंस्कारं रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥ ३६ ॥

खान अथवा समुद्र से उत्पन्न रत्न को जिस प्रकार बिना खरादे हुए

आभूषणों में नहीं प्रतिष्ठित किया जाता उसी प्रकार सुन्दर वंश में भी समुत्पन्न राजकुमार को सत्पुरुष लोग शास्त्रज्ञान से संस्कृत हुए बिना प्रतिष्ठित नहीं करना चाहते।

दुर्विनीत रोग के दोष—

न दुर्विनीताद् राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥ ३७ ॥

दुर्विनीत राजा से प्रजा को विनाश से अधिक दूसरे किसी उत्पात का भय नहीं होता। दुष्ट राजा से प्रजा का क्षय अवश्यम्भावी है।

दुर्विनीत का लक्षण—

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ॥ ३८ ॥

जो राजा योग्य-अयोग्य का निर्णय न कर सके अथवा जिसकी बुद्धि विपरीत हो, बुरी बात को ही अच्छा समझे, वह दुर्विनीत है।

'द्रव्य' और 'अद्रव्य' प्रकृति के राजा—

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणाः संक्रामन्ति तद् द्रव्यम् ॥ ३९ ॥

सत् पुरुषों के द्वारा दिया उपदेश जिस व्यक्ति में स्थिर रह सके वह द्रव्य-प्रकृति का पुरुष है।

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यम् ॥ ४० ॥

जो द्रव्य प्रकृति का है वही राज्य भोग कर सकता है अद्रव्य प्रकृति का नहीं।

यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरप्यस्ति कश्चित् पुरुषः संकीर्णगजवत् ॥४१॥

संकीर्ण जाति का गज जिस प्रकार गजराज नहीं हो सकता उसी प्रकार द्रव्य प्रकृति के पुरुषों में भी द्रव्याद्रव्य की सङ्कर प्रकृति का पुरुष राजपद के योग्य नहीं होता।

बुद्धि के ८ गुण : उन गुणों का निरूपण—

शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणा-विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा बुद्धि-गुणाः ॥ ४२ ॥

बुद्धि के आठ गुण हैं, शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश। (इनका स्पष्टीकरण अग्रिम सूत्रों में ग्रन्थकार ने स्वयं किया है)

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥ ४३ ॥

शास्त्रश्रवण की इच्छा ही शुश्रूषा है।

श्रवणमाकर्णनम् ॥ ४४ ॥

शास्त्रीय प्रसङ्गों का सुनना श्रवण है।

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् ॥ ४५ ॥

शास्त्रीय प्रसङ्गों का संग्रह करना ग्रहण गुण है।

धारणमविस्मरणम् ॥ ४६ ॥

शास्त्रीय बातों को जान कर न भूलना बुद्धि का धारण नाम का गुण है।

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥ ४७ ॥

अज्ञान, सन्देह और प्रतिकूल बातों का खण्डन कर ज्ञान प्राप्त करना विज्ञान नामक बुद्धि गुण है।

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधतर्कणमूहः ॥ ४८ ॥

ज्ञात विषय की अन्यत्र व्याप्ति पर विचार करना और उसी प्रकार की अन्य कल्पनाएँ करना 'ऊह' नामक बुद्धि गुण है।

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्त्तनमपोहः ॥ ४९ ॥

ज्ञान के किसी निर्णीत सिद्धान्त का किसी विरोधी अर्थ द्वारा खण्डन कर दिये जाने की संभावना में उक्ति और युक्ति के द्वारा उस विरोधी अर्थ का निराकरण करना अपोहनाम का बुद्धि गुण है।

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥ ५२ ॥

अथवा सामान्यज्ञान ऊह है और विशेष ज्ञान अपोह।

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेशः ॥ ५३ ॥

विज्ञान, ऊहापोह और अनुगम से परिष्कृत कर 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का निश्चय करना तत्त्वाभिनिवेश नाम का बुद्धिगुण है।

विद्याएँ और उनके भेद—

याः समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ॥ ५४ ॥

जिनको जानकर व्यक्ति अपना हित पहचान सके और अहित का निवारण कर सके वे विद्याएँ हैं।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रोराजविद्याः ॥ ५५ ॥

आन्वीक्षिकी अर्थात् अध्यात्म विद्या या तर्कशास्त्र त्रयी अर्थात् चारों वेद, षडङ्ग और चतुर्दश विद्याएँ, वार्त्ता अर्थात् कृषि पशुपालन और व्यापार तथा दोष के अनुकूल दण्ड का विधान रूप दण्डनीति, ये चार राजविद्याएँ है।

अधीयानो आन्वीक्षिकीं कार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, समधिगच्छति च प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम् ॥ ५६ ॥

आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययत करनेवाला व्यक्ति कार्य के बलाबल का

विचार तर्क के द्वारा करता है, दुःख आ पड़ने पर दुःखी नहीं होता, अभ्युदय होने पर उन्मत्त नहीं होता और बुद्धिकौशल तथा वाक्‌चातुर्य प्राप्त करता है।

त्रयीं पठन् वर्णाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्मस्थितिम् ॥ ५७ ॥

त्रयी का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति ब्राह्मणादि चारों वर्णों के आचार-व्यवहार में बहुत पटु हो जाता है और धर्म तथा अधर्म की स्थिति को जान जाता है।

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति, लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥ ५८ ॥

वार्त्ता विद्या का युक्ति-पूर्वक प्रयोग करनेवाला व्यक्ति समस्त जनवर्ग को आनन्दित करता है और स्वयं भी सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त करता है।

दण्डनीति की प्रशंसा—

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति, प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफला विभूतयः ॥ ५९ ॥

अपराधियों के लिये यमराज के समान दण्ड का विधान करनेवाले राजा के वर्तमान रहने पर प्रजा अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं कर पाती और राजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का ऐश्वर्यभोग प्राप्त होता है।

आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं का उपयोग—

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्त्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालनं दुष्टनिग्रहः ॥ ६० ॥

अध्यात्म-विषय में आन्वीक्षिकी, वेद यज्ञ आदि के विषय में त्रयी विद्या और कृषि कर्म आदि के सम्बन्ध में वार्ता विद्या तथा साधुजनों का पालन और दुष्टों का दमन करने में दण्डनीति काम आती है।

विद्या के लाभ—

चेतयते च विद्या वृद्धसेवायाम् ॥ ६१ ॥

विद्या वृद्धसेवा में प्रवृत्त करती है।

अजातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरङ्कुशो गज इव सद्यो विनश्यति ॥ ६२ ॥

विद्या और वृद्धसंयोग से वञ्चित राजा निरंकुश हाथी के समान शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥ ६३ ॥

विद्याओं का अध्ययन न करता हुआ भी राजा विशिष्ट व्यक्तियों के संसर्ग से उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

राजा के लिये वृद्धों की संगति से लाभ—

अन्यैव काचित्खलु छायोपजलतरूणाम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार विशिष्ट-व्यक्तियों के संसर्ग से प्राप्त ज्ञान की शोभा जलसमीप-वर्ती वृक्षों की छाया के समान कुछ अपूर्व ढंग की होती है।

राजाओं के गुरु कैसे हों—

वंशवृत्तविद्याऽभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥ ६५ ॥

राजाओं के गुरु वे होते हैं जिनका वंश विमल हो चरित्र निर्दोष हो, ज्ञान निर्मल हो और कुलीनता में किसी प्रकार का लाञ्छन न हो।

शिष्टों का समादर राजा का कर्तव्य है—

शिष्टेषु नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥ ६६ ॥

शिष्ट पुरुषों के प्रति विनम्र आचरण करनेवाला राजा इस लोक और परलोक में भी महत्त्व को प्राप्त करता है।

राजा के द्वारा वन्दनीय व्यक्ति—

राजा हि परमं दैवतं नासौ कस्मैचित्प्रणमत्यन्यत्रगुरुजनेभ्यः ॥६७॥

राजा महान् देवतास्वरूप होता है वह अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रणाम नहीं करता।

अशिष्टों की सेवा कर विद्या-प्राप्ति अनुचित है—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥ ६८ ॥

मूर्ख रह जाना अच्छा है किन्तु अशिष्ट पुरुषों की सेवा करके विद्या प्राप्त करना अच्छा नहीं है।

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥ ६९ ॥

विष-मिश्रित अमृत से क्या लाभ?

गुरु और शिष्य के आचार-विचार में समानता—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥ ७० ॥

शिष्यवृन्द प्रायः गुरुओं के ही शील-सदाचार के अनुगामी होते हैं।

प्रारम्भ के संस्कार अमिट होते हैं—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥ ७१ ॥

मिट्टी के नये बर्तन में रखी गई सुगन्ध अथवा दुर्गन्धयुक्त वस्तु का संस्कार जिस प्रकार किसी तरह से भी नहीं दूर होता उसी प्रकार नवीन पात्र-रूपी शिष्य में गुरु के द्वारा प्रारम्भावस्था में डाला गया संस्कार (शील-सदाचार और ज्ञान) ब्रह्मा के भी मिटाये नहीं मिटता।

अभिमानी नृप निन्दनीय है—

अन्ध इव वरं परप्रणेयो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ।। ७२ ।।

अन्धे के समान सदा सन्त्रियों आदि दूसरों के सहारे चलनेवाला राजा अच्छा है किन्तु ज्ञान के लेशमात्र से अपने को महापण्डित माननेवाला अभिमानी राजा नहीं अच्छा होता ।

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरम् आधत्ते ।।७३।।

नील के रंग में रंगे हुए वस्त्र पर जिस प्रकार कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार 'ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध' (अल्पज्ञ) राजा के भी विचारों को बदला नहीं जा सकता ।

राजा गुणग्राही हों और विद्वान् यथार्थवादी—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणद्वेषी ।। ७४ ।।

यदि राजा गुणों से द्वेष न करनेवाला अर्थात् गुणग्राही हो तो विद्वानों को कठोर और अप्रिय होने पर भी यथार्थ तत्त्व का निवेदन करना श्रेयस्कर है ।

स्वामी को अहितकर उपदेश नहीं देना चाहिए—

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ।। ७५ ।।

साधु-पुरुष का स्वयं मर जाना अच्छा है, किन्तु राजा को अहित उपदेश देना अच्छा नहीं है ।

[इति विद्यावृद्धसमुद्देशः]

---

६. आन्वीक्षिकीसमुद्देशः

अध्यात्मयोग का लक्षण—

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ।। १ ।।

चिद् रूप व्यापक आत्मा, संकल्प-विकल्प प्रवृत्ति वाला मन और शरीरस्थ प्राणवायु इन पर समान रूप से अधिकार रखना 'अध्यात्मयोग' है ।

अध्यात्म के लाभ—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहजशारीरमानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ।।२।।

अध्यात्मशक्ति संपन्न राजा भीरुता, अकर्मण्यता आदि स्वाभाविक दोष, ज्वरादि शारीरिक दोष तथा कुत्सित संकल्प करना आदि मानसिक दोषों से एवम् आकस्मिक दुर्घटना आदि आगन्तुक दोषों से पीड़ित नहीं होता ।

आत्माराम का लक्षण—

मन इन्द्रियाणि विषयाः ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः ।। ४ ।।

अपना मन; इन्द्र से भी दुर्जय इन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषय और स्वप्रकाश रूप ज्ञान यही जिस के आत्मा के क्रीड़ा स्थान हों वह आत्मा राम है, आत्मन्येव रमते इत्यात्मारामः ।

आत्मा का स्वरूप—

यत्राहमित्यनुपचरितः प्रत्ययः स आत्मा ॥ ४ ॥

जिस पदार्थ में मैं हूं ऐसी औपचारिक नहीं, किन्तु वास्तविक अनुभूति हो वह आत्मा है ।

आत्मा की अमरता न मानने से दोष—

असत्यात्मनि प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥ ५ ॥

मृत्यु के उपरान्त आत्मा की सत्ता न स्वीकार करने पर बड़े-बड़े विद्वानों का अनेक शुभ कार्यों में प्रवृत्त होना ही व्यर्थ हो जायगा ।

विशेषार्थ—चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है इसलिये जब देह नष्ट हो गया अर्थात् प्राणी मर गया तो आत्मा भी नष्ट हो गया इस प्रकार का विचार रखने वाले चार्वाक आदि के प्रति यहां यह कहा गया है कि यह विचार उपयुक्त और ठीक नहीं है; क्योंकि संसार में मूर्ख नहीं अपितु बड़े-बड़े विद्वान् यज्ञ, दान, वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों में इसी विश्वास से लगे रहते हैं कि इनका उनको जन्मान्तर में इहलोक और परलोक में सुन्दर फल प्राप्त होगा । यदि शरीर के साथ 'आत्मा' भी नष्ट हो जाता तो विद्वान् ऐसे कार्यों को क्यों करते ? क्योंकि जब मूर्ख से भी मूर्ख मनुष्य बिना प्रयोजन के किसी काम में नहीं लगता तो फिर विद्वानों के विषय में तो कहना ही क्या है । अतः जन्मान्तर में सुख का भोक्ता, द्रष्टा, व्यापक शाश्वत आत्म पदार्थ है ।

मन का लक्षण—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणम्, ऊहापोहनम्, शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ॥ ६ ॥

जिसके द्वारा हम किसी चीज को याद रख सकते हैं, चिन्तन कर सकते हैं, तर्क और कल्पना कर सकते हैं, खण्डन-मण्डन कर निश्चय कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किसी की बात-चीत को और चेष्टा को सुन-समझ सकते हैं वह मन है ।

इन्द्रिय लक्षण—

आत्मनो विषयानुभवद्वाराणीन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

आत्मा को शब्द-स्पर्श, रूप-रस और गन्ध का जिनके द्वारा अनुभव होता है वे इन्द्रियां हैं ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा हि विषयाः ॥ ८ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का नाम विषय है ।

ज्ञान का लक्षण—

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानम् ॥ ९ ॥

समाधि अर्थात् ध्यान पूर्वक चिन्तन करने से तथा आंख, कान, नाक, मुंह हाथ आदि इन्द्रियों से देखने-सुनने आदि के द्वारा हम जो कुछ परोक्ष और प्रत्यक्ष वस्तु के विषय में जान पाते हैं, उसी का नाम ज्ञान है।

सुख का स्वरूप—

सुखं प्रीतिः ॥ १० ॥

मन और इन्द्रियां जिससे आनन्दित हों उसका नाम सुख है।

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिर्वृतिः ॥ ११ ॥

वह सुख भी सुख नहीं है जिससे मन को पूर्ण आह्लाद न हो।

सुख के कारण—

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥ १२ ॥

अभ्यास, अभिमान, सम्प्रत्यय और विषय ये सुख के कारण है।

अभ्यास की परिभाषा—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥ १३ ॥

किसी परिणाम पर पहुँचने की दृष्टि से अथवा सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त किसी किया को बारम्बार करना अभ्यास है। जैसे शास्त्र और शास्त्र में कुशलता प्राप्त करने की दृष्टि से उनको बार बार दोहराते रहना अभ्यास है।

अभिमान के लक्षण—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मन उत्कृष्टत्वसंभावनमभिमानः ॥ १४ ॥

महान् व्यक्ति अथवा समाज के द्वारा आश्रय अथवा सम्मान आदि मिलने पर व्यक्ति को अपने में जो उत्कर्ष की भावना होती है वही वस्तु अभिमान है।

सम्प्रत्यय का स्वरूप—

अतद्गुणवस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥ १५ ॥

वस्तुतः जिसका जो गुण नहीं है उसमें उसगुण का अभिनिवेश अर्थात् आग्रह करने का नाम सम्प्रत्यय है।

विशेषार्थ—सम्प्रत्यय से सुख होता है। जैसे सौन्दर्य मांसपिण्ड का अथवा स्त्री-पुरुष का वास्तविक अथवा नित्य रहने वाला गुण नहीं हैं। सुन्दर से सुन्दर मनुष्य रोगी होकर कुरूप हो जाता है, किन्तु मनुष्य स्त्री अथवा पुरुष विशेष को सुन्दर मानकर उस पर आसक्त होता है और सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार मानव के अभिनिवेश का नाम सम्प्रत्यय है।

विषय का लक्षण—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥ १६ ॥

जिस भाव अथवा पदार्थ मे इन्द्रिय और मन को तृप्ति अथवा सन्तोष हो उसका नाम विषय है।

दुःख का स्वरूप—

दुःखमप्रीतिः ॥ १७ ॥

अप्रीति ही दुःख है।

विशेषार्थ—शीतल, मन्द, सुगंध, समीर, सुंदर प्राकृतिक दृश्य सन्मुख होते हुए भी यदि मन आनन्दित नहीं है तो ये सुखकर पदार्थ भी दुःखकर हैं। बहुत से आभूषणों और वस्त्रों का बोझ शरीर पर लादे रहना वस्तुतः सुखकारक तो नहीं होता, किन्तु उस सज्जा से मन को प्रसन्नता होती है अतः वह सुख माना जाता है। इन्हीं बातों को दृष्टिगत कर आगे का सूत्र है।

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥ १८ ॥

वह दुःख भी दुःख नहीं है जिसमें मन को क्लेश न हो।

दुःख के चार भेद—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगञ्चेति ॥ १९ ॥

दुःख चार प्रकार के हैं सहज, दोषज, आगन्तुक और अन्तरङ्ग।

सहजं क्षुत्तर्षपीडा मनोभूभवं चेति ॥ २० ॥

भूख, प्यास और मनरूपी पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले क्रोध ईर्ष्या आदि सहज दुःख हैं।

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसंभूतम् ॥ २१ ॥

वात, पित्त और कफ के विकृत होने से उत्पन्न होनेवाले दुःख दोषज दुःख हैं।

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितम् ॥ २२ ॥

वर्षा और धूप आदि से उत्पन्न दुःख आगन्तुक दुःख है।

न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥ २३ ॥

धिक्कार, अपमान, और इच्छाओं के पूर्ण न होने से उत्पन्न दुःख अन्तरंगज दुःख हैं।

सदा खिन्न रहने से दोष—

न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥ २४ ॥

निरन्तर क्लेश और अधिक परिश्रम से जिनकी प्रकृति सदा खिन्न

रहती है उनको ऐहलौकिक और पारलौकिक कोई भी सुख नहीं प्राप्त होते।

कुत्सित पुरुष का लक्षण—

स किंपुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंश धनुष इव नाधिकं जायते बलम् ॥ २५ ॥

अच्छी किस्म के बांस से बनाये गये धनुष पर बाण चढ़ाते समय जिस प्रकार अधिक दृढ़ता प्रतीत होती है उसी प्रकार महान् आपत्ति आने पर जिस पुरुष में दृढ़ता न उत्पन्न हो, स्थिरता और गम्भीरता न हो वह पुरुष कुत्सित पुरुष है।

इच्छा का लक्षण—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा ॥ २६ ॥

भविष्य में होने वाली क्रिया का जो कारण है वही अभिलाष अथवा इच्छा है।

आत्मनो प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्त्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥ २७ ॥

दोषों से बचने के उपाय—

अपने को प्रत्यवाय अर्थात् दोषों से बचाये रखने के लिये दो उपाय हैं। प्रथम उन दोषों और बुराइयों से घृणा करना दूसरा उन दोषों को करने की इच्छा ही न करना।

उत्साह का लक्षण—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥ २८ ॥

जिस भाव के कारण मनुष्य की भलाई हो और बुराई दूर हो उसका नाम उत्साह है।

प्रयत्न की परिभाषा—

प्रयत्नपरिनिमित्तको भावः ॥ २९ ॥

मनुष्य के हृदय में कार्य करने के निमित्त जो भाव उत्पन्न होता है उसी का नाम प्रयत्न है।

संस्कार की दो परिभाषाएं—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥ ३० ॥

राजा अथवा जनता से अतिशय आदर आदि की प्राप्ति संस्कार हैं।

अनेकजन्मकर्माभ्यासवासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियते इति संस्कारः।

अनेक जन्म में किये गये कर्मों के अभ्यास की वासना के वश होकर तुरन्त उत्पन्न हुए प्राणी के मन में जो दूध पीने आदि की प्रवृत्ति होती है—वह संस्कार है।

शरीर का स्वरूप—

भोगायतनं शरीरम् ॥ ३१ ॥

भले-बुरे भोगों का घर ही शरीर है।

लोकायतिक का लक्षण—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥ ३२ ॥

यह लोक ही सब कुछ है, ऐसा मानकर समस्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराने वाला दर्शन लोकायतिक अथवा नास्तिक दर्शन है।

राजा को लोकायत जानना श्रेयस्कर है—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥ ३३ ॥

लोकायत अर्थात् नास्तिक दर्शन को जाननेवाला राजा राष्ट्र की बुराइयों को नष्ट कर देता है।

कोई क्रिया सर्वथा निर्दोष नहीं है—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥ ३४ ॥

सन्यासियों के भी कर्म-सत्य, अहिंसा आदि सर्वथा निर्दोष नहीं होते।

अत्यन्त दयालुता के दोष—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥ ३५ ॥

केवल करुणा में तत्पर मनुष्य अर्थात् अत्यन्त दयालु हथेली में भी रखे हुए अर्थ की रक्षा नहीं कर सकता।

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ॥ ३६ ॥

सर्वथा शान्त चित्त रहने वाले मनुष्य का कौन नहीं अनादर करता।

अपराधी को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है—

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनाम् ॥ ३७ ॥

अपराध करने वाल को दण्डित न करना सन्यासियों को ही शोभा दे सकता है राजा को नहीं।

परिणाम शून्य क्रोध और कृपा व्यर्थ है—

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या नस्तः कोपप्रसादौ ॥ ३८ ॥

जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध और प्रसन्नता न प्रदर्शित कर सके वह धिक्कार के योग्य है।

विशेषार्थ—जिसके क्रोध से न कोई डर हो और प्रसन्नता से न कोई लाभ ही हो वह पुरुष निन्दनीय है।

जीवित मृत का लक्षण—

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥ ३९ ॥

वह पुरुष जीते हुए भी मरा है जो अपने विरुद्ध आचरण करने वालों पर किसी प्रकार के पराक्रम का प्रदर्शन न कर सके।

भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पदं न कुर्यात् ॥ ४० ॥

बिना आग की भस्म पर कौन नहीं निडर होकर पैर रखेगा।

पाप के लिये अपवाद—

तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥ ४१ ॥

वह पाप पाप नहीं है जिसके करने से महान् धर्म होता है।

विशेषार्थ—किसी एक दुष्ट का वध कर देने से हजारों-लाखों की यदि सुरक्षा होती हो तो उसका वध पाप कर्म नहीं होगा।

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम् ॥ ४२ ॥

अन्यथा अर्थात् उपर्युक्त रीति-नीति से दुष्ट दमन न करने पर राजा का राज्य उसके लिये नरक के समान ही दुःखकारक हो जाता है।

अधिकार प्राप्ति से दोष—

बन्धनान्तो नियोगः ॥ ४३ ॥

अधिकार बन्धन है।

विशेषार्थ—मनुष्य को अधिकार मिलने पर अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों के बन्धन में बंध जाना पड़ता है।

दुष्टों की मित्रता का परिणाम—

विपदन्ता खलमैत्री ॥ ४४ ॥

दुष्टों की मित्रता का अन्त विपत्ति में होता है।

स्त्रियों पर विश्वास करने का फल—

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः ॥ ४५ ॥

स्त्रियों पर विश्वास करना अन्त में मृत्यु का कारण होता है।

इत्यान्वीक्षिकी समुद्देशः।

---

७. त्रयीसमुद्देशः

त्रयी का अर्थ—

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति षडङ्गानीतिहास-पुराण मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दश विद्यास्थानानि त्रयी ॥ १ ॥

चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष, ये षडङ्ग और इतिहास-पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र इन चौदह विद्या स्थानों को त्रयी कहते हैं।

त्रयी विद्या से लाभ—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥ २ ॥

इस त्रयी विद्या के आधार से चारों वर्ण और चारों आश्रम के लोगों की धर्म और अधर्म की व्यवस्था होती है।

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥ ३ ॥

इस त्रयी विद्या के द्वारा समस्त सम्प्रदाय के मनुष्य अपने-अपने मतों में सानुराग प्रवृत्त होकर लौकिक व्यवहार के अधिकारी बनते हैं।

धर्मशास्त्र और वेद की समानता—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद् वेदा एव ॥ ४ ॥

धर्मशास्त्र और स्मृति ग्रन्थों में वेदों में प्रतिपादित अर्थ का ही संग्रह हुआ है, अतः ये वेद ही हैं। अर्थात् इनके वचन वेद के तुल्य मान्य है।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के समानधर्म—

अध्ययनं यजनं दानञ्च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥ ५ ॥

अध्ययन, यज्ञ और दान ये तीन ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये समानरूप से पालन करने योग्य धर्म हैं।

द्विजाति का अर्थ—

त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ ६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों की द्विजाति संज्ञा है।

ब्राह्मणों के नियत कर्म—

अध्यापनयाजनं प्रतिग्रहश्च ब्राह्मणानामेव ॥ ७ ॥

पढ़ाना, यज्ञ आदि कराना और दान लेना यह ब्राह्मणों का ही कर्म है।

क्षत्रियों के नियत कर्म—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥ ८ ॥

जीवों की रक्षा, शस्त्र विद्या द्वारा जीविका चलाना, सत्पुरुषों का उपकार करना, दीनों का दुःख से उद्धार करना और संग्राम से विमुख न होना, क्षत्रियों के कर्म हैं।

वैश्यों के नियत कर्म—

वार्त्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम् ॥ ९ ॥

वार्त्ता अर्थात् कृषि, पशु रक्षा और वाणिज्य, अतिथिसेवा, अन्नसत्र, प्याऊ, पुण्यार्थ गृह धर्मशाला तथा उद्यान आदि की स्थापना एवं निर्माण दया और दान आदि कर्मों में प्रवृत्त रहना वैश्यों के कर्त्तव्य हैं।

शूद्रों के नियत कर्म—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म शकटोपवाहनं च शूद्राणाम् ॥१०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा, शिल्पकार्य, कथक अथवा चारण कार्य और गाड़ी ढोना यह सब शूद्र के कर्त्तव्य हैं।

सच्छूद्र के लक्षण—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥ ११ ॥

कन्याओं का एक बार ही विवाह करने की मर्यादा का पालन करनेवाले शूद्रों को सत् शूद्र कहते हैं।

शूद्र भी देवपूजा आदि के अधिकारी होते हैं—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥ १२ ॥

अनिन्द्य, आचार-व्यवहार घर के सामानों को साफ सुथरा रखना, तथा शरीर की शुद्धि स्नानादि के द्वारा करने से शूद्र भी देवता, ब्राह्मण और तपस्वियों की पूजा-परिचर्या के योग्य होते है।

सर्वसाधारण के द्वारा पालन योग्य धर्म—

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं, परस्वनिवृत्तिः, इच्छा नियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥ १३ ॥

मृदुता, असत्य भाषण न करना, पराये धन को न लेने की प्रवृत्ति, इच्छाओं पर नियन्त्रण स्वजाति में ही शास्त्रानुमोदित विवाह करना, निषिद्ध स्त्रियों के साथ समागम न करना, सब वर्ण और आश्रम वालों के लिये समानरूप से पालन करने योग्य धर्म हैं।

साधारण धर्म की विशेषता—

आदित्यालोकनवत् धर्मः खलु सर्व साधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥ १४ ॥

जिस प्रकार सूर्य का दर्शन करने का ब्राह्मण और चाण्डाल को समान अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार मृदुता सत्यभाषिता आदि उपर्युक्त धर्म सबके लिये समान हैं। विशेष प्रकार के धर्मानुष्ठान के लिये ही विशेष नियम हैं।

यतियों का स्वधर्म—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वोधर्मः ॥ १५ ॥

अपने सम्प्रदाय के अनुकूल शास्त्रों में वर्णित आचार-विचार का परिपालन यतियों का स्वधर्म है।

स्वधर्म का पालन न करने का प्रायश्चित्त—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६ ॥

यदि यति या सन्यासी स्वधर्म पालन से च्युत हो जाय तो उनको अपने आगम में वर्णित प्रायश्चित्त करने चाहिएं।

श्रद्धा के अनुरूप उपासना करनी चाहिए—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ॥ १७ ॥

जो जिस देवता विशेष के प्रति श्रद्धालु हो वह उसी की उपासना या प्रतिष्ठा करें।

भक्तिहीन पूजन से दोष—

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय ॥ १८ ॥

बिना भक्ति की पूजा तत्काल शापदायक होती है।

आचार से च्युत होने पर शुद्धि का उपाय—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ॥ १६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी, ये जब अपने आचार से च्युत हों तो उनकी शुद्धि 'त्रयी' अर्थात् पूर्वोक्त चतुर्दश विद्या स्थानों में वर्णित विधानों के अनुसार होती है।

राजा के लिये त्रिवर्ग प्राप्ति का उपाय—

स्वधर्मासङ्करः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसंधत्ते ॥ २० ॥

प्रजा में यदि राजा की शासन कुशलता से धर्म-सांकर्य, वर्ण-संकरता आदि दोष नहीं उत्पन्न हो पाते तो राजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, अर्थात् राजा सुखी रहता है।

प्रजा की रक्षा राजा का प्रमुख कर्त्तव्य—

स किंराजा यो न रक्षति प्रजाः ॥ २१ ॥

वह राजा राजा नहीं है अर्थात् निन्दनीय है जो अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता।

राजा की आवश्यकता—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥ २२ ॥

अपने धर्म का उल्लङ्घन करने वाले समस्त व्यक्तियों का अनुशासक राजा ही है।

प्रजापालक राजा को प्रजा के धर्मपालन का छठा भाग प्राप्त होना—

परिपालको हि राजा सर्वेषा धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ॥ २३ ॥

लोग अपने अपने धर्म का परिपालन करते रहें, इस प्रकार का रक्षक

राजा समस्त वर्ण और आश्रम वालों द्वारा किये गये धर्मानुष्ठान के छठे अंश का भागी होता है।

तपस्वियों द्वारा भी राजा का सम्मान—

उञ्छषड्भागप्रदानेन तपस्विनोऽपि राजानं संभावयन्ति ॥ २४ ॥

कण-कण बटोर कर अन्न इकट्ठा कर जीवन निर्वाह करना उञ्छवृत्ति है। उञ्छ का छठा हिस्सा देकर तपस्वी भी राजा का समादर करते हैं।

तस्यैतद् भूयाद् योऽस्मान् रक्षति ॥ २५ ॥

तपस्वी कहते हैं यह षष्ठांश उस राजा को प्राप्त हो जो हमारी रक्षा करता है।

मङ्गल और अमङ्गल की मान्यता—

तदमङ्गलमपि नामङ्गलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥ २६ ॥

जिस पर अपनी श्रद्धा-भक्ति हो वह वस्तु या व्यक्ति अमंगलकारक होने पर भी अमंगलकारक नहीं होता।

पुरुष के कर्त्तव्य—

सन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥ २७ ॥

संन्यासी और याज्ञिकों की उपासना करनी चाहिए।

स्नान के अनन्तर आवश्यक कर्त्तव्य—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥ २८ ॥

स्नान के अनन्तर जब तक देवोपासना न कर ले तब तक किसी का स्पर्श न करे।

देवमन्दिर में जाने पर गृहस्थ का कर्त्तव्य—

देवागारे गतः सर्वान् यतीन् आत्मसंबन्धिनीर्जरतीः पश्येत् ॥ २९ ॥

देवालय में पहुँच कर समस्त यतियों और कुलवृद्धाओं से शिष्टाचार करे।

राजा और साधु का सत्कार आवश्यक है—

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः। राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनाम्। न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥ ३० ॥

देवाकार को प्राप्त पाषाण का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये मनुष्य तो दूर रहा। राज्यशासन की मुहर मिट्टी पर भी महत्त्वपूर्ण होती है। रूप या वेषधारी वस्तु का विचार नहीं किया जाता। क्योंकि स्वयं मलिन भी खली, गायों का दूध ही बढ़ाती है। दूसरों के आचार से अपना पुण्य नहीं बढ़ता, वह तो मन की निर्मलता पर निर्भर है।

ब्राह्मण आदि के स्वाभाविक धर्मों का वर्णन—

दीना प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणों का स्वभाव प्रायः दीन-अर्थात् विनम्र होता है।

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥ ३२ ॥

क्षत्रियों का स्वभाव बलात्कार-बल प्रदर्शन होता है।

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ॥ ३३ ॥

कोल, भील आदि स्वभावतः शठ होते हैं।

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ॥ ३४ ॥

किसानों में स्वाभाविक नम्रता और स्वाभाविक कठोरता भी होती है।

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणों के क्रोध का अन्त दान में होता है अर्थात् दान पाने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाता है।

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ॥ ३६ ॥

गुरुओं के क्रोध का अन्त प्रणाम करने से होता है।

प्राणावसानः कोपः क्षत्रियाणाम् ॥ ३७ ॥

क्षत्रियों के क्रोध का अन्त प्राण लेकर ही होता है।

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग् जनानाम् ॥ ३८ ॥

वैश्यों के क्रोध की शान्ति मीठे वचनों से होती है।

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः ॥ ३९ ॥

वैश्यों के क्रोध की शान्ति उनका कर्ज चुका देने से हो जाती है।

निश्चितैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः ॥ ४० ॥

जो स्थायी रूप से एक जगह रहते हों और भली भांति परिचित हों उन के संग लेन-देन का व्यवहार करना वैश्यों के लिये 'निधि' रूप है। क्योंकि इनको दिये गये ऋण के न वसूल हो सकने का भय नहीं रहता और वैश्यों की ऐश्वर्य-वृद्धि होती हैं।

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ॥ ४१ ॥

दण्ड-भय और छल-छद्म पूर्ण व्यवहार नीच जाति के लोगों को वश में करने का उपाय है।

इति त्रयी समुद्देशः ॥

८. वार्त्तासमुद्देशः

वैश्यों की आजीविका का वर्णन—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ॥ १ ॥

खेती, पशुपालन और व्यापार ये वैश्यों की आजीविकायें हैं।

'वार्त्ता' की समृद्धि से राजा की समृद्धि—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥ २ ॥

राज्य में वार्त्ता की समृद्धि से राजा की सब प्रकार की समृद्धि होती है। कृषि, पशुपालन और व्यापार का सङ्क्षिप्त नाम 'वार्त्ता' है।

सांसारिक दृष्टि से कौन सुखी है—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युद-पानं च ॥ ३ ॥

उसको संसार का समस्त सुख भोग प्राप्त है जिस को खेती हो, गाय-बैल हों, शाक आदि के लिये बाड़ी या बगीचे हों और घर में ही पेय जल का प्रबन्ध हो।

अपव्ययी राजा की हानि का वर्णन—

विसाध्यराज्ञस्तन्त्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयश्च ॥४॥

तंत्र-पोषण में व्यर्थ विशेष व्यय करने वाले राजा के अधिकारियों के यहाँ तो उत्सव मनता है पर राजा के कोष की महती क्षति होती है।

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥ ५ ॥

सदा स्वर्ण-व्यय करने से सुमेरु जैसी विशाल धन-राशि भी विनष्ट हो जाती है।

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥ ६ ॥

जहां राजा फजूलखर्ची होता है वहां सदा ही दुर्भिक्ष की स्थिति बनी रहती है।

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ॥ ७ ॥

समुद्र ही यदि प्यासा हो जाय तो उस अनन्त जल-राशि को पूर्ण करने के लिये संसार में और कहां जल मिलेगा।

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्-पिपासाऽप्रति-कारात् पापं च ॥ ८ ॥

पशुधन की स्वयं देखभाल न करने से बड़ी हानि होती है मन को संताप भी होता है तथा मूक पशुओं के भूखे-प्यासे बंधे रहने पर पाप भी होता है।

राजा के लिये बन्धुओं की भांति पोष्यवर्ग—

वृद्धबालव्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ॥ ९ ॥

बूढ़े, बच्चे, रोगी और जर्जर पशुओं का पोषण अपने बान्धवों की तरह करे।

पशुओं की अकाल मृत्यु का कारण—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥ १० ॥

बहुत अधिक बोझ ढोना, बहुत मार्ग चलना पशुओं की अकाल मृत्यु का कारण होता है।

राज्य में बाहरी माल न आने के कारण—

शुल्कवृद्धिर्बलात् पण्यग्रहणश्च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥११॥

कर वृद्धि और विक्रय योग्य वस्तुओं का अधिकारियों आदि के द्वारा बलात् ले लिये जानेसे देशान्तर से बिक्री की चीजें आना बंद हो जाता है।

बेईमानी सदा नहीं सफल हो सकती—

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ॥ १२ ॥

काठ की हांडी में एक ही बार भोजन पकाया जा सकता है। अर्थात् बेईमानी एक ही बार चल सकती है।

मापों की शुद्धता की आवश्यकता—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥ १३ ॥

तराजू और बांट की गड़बड़ी से व्यापार बिगड़ता है।

कृत्रिम मंहगाई के दुष्परिणाम—

वणिग्जनकृतोऽर्घः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति ॥ १४ ॥

जब बनिये वस्तुओं का मूल्य अपने मन से बढ़ा देते हैं तो उस से वहां के रहने वालों को और बाहर से आने वालों को कष्ट होता है।

वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने में आवश्यक विचार—

देशकालभाण्डापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत ॥ १५ ॥

समय देश और विक्रय की वस्तुओं का विचार कर के वस्तुओं का मूल्य स्थिर करना चाहिए।

बाजार के विषयमें राजा को स्वयं सतर्क रहना चाहिए—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥ १६ ॥

बाजार की चीजें नकली और मिलावट की न हों तराजू की तोल में घट बढ़ न हो और बटखरे कम ज्यादा नाप के न हों इन बातों की जांच पड़ताल राजा को स्वयं करते रहना चाहिए।

वणिक्-स्वभाव का वर्णन—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ॥ १७ ॥

बनियों से बढ़कर दूसरा कोई पश्यतोहर (प्रत्यक्ष चोर) नहीं है ।

कृत्रिम मूल्यवृद्धि के विषय में राजा का कर्तव्य—

स्पर्द्धया मूल्यवृद्धिर्भाण्डेषुराज्ञो, यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ॥ १८ ॥

आपस की लागडांट करके चीजों का मूल्य व्यापारी बढ़ा दें तो बढ़ा हुआ मूल्य राजा लेले और यथोचित मूल्य मात्र बेंचने वाले को दे ।

बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में खरीदने वाले के प्रति राजा का कर्तव्य—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राज्ञः ॥१६॥

थोड़ा ही पैसा देकर बहुमूल्य वस्तु खरीदने वाले बनिये को मूल्य मात्र देकर बिक्री की बहुमूल्य चीज राजा ले ले ।

अन्याय की उपेक्षा से राजा को हानि—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥ २० ॥

अन्याय की उपेक्षा सब कुछ नाश कर देती है ।

राष्ट्र के लिये दण्ड के तुल्य व्यक्ति—

चौरचरटान्वयधमनराजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूट-वार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः ॥ २१ ॥

चोर गुप्तदूत चारण और भाट आदि, राजा के प्रेमपात्र, जंगलात विभाग के कर्मचारीगण तलार अर्थात् छोटे छोटे स्थानों की रक्षा के निमित्त नियुक्त अधिकारी व्यक्ति जैसे ग्राम चौकीदार-हल्का जमादार आदि अक्षशालिक अर्थात् जुआ खिलाकर अपनी जीविका चलाने वाले व्यक्ति, नियोगी अर्थात् अधिकारी गण, ग्रामकूट अर्थात् पटवारी और वाद्‌र्घुषिक व्याजखोर ये ग्यारह राष्ट्रके लिये कण्टक स्वरूप हैं ।

प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ॥ २२ ॥

राजा प्रतापशाली हो और शासन में कठोर हो तो ये राष्ट्र कण्टक विघ्न नहीं कर सकते ।

ब्याज से जीवन निर्वाह करने वालों से राष्ट्र की क्षति और उसके सुझाव—

अन्यायवृद्धितोवार्द्धुषिकास्तन्त्रं देशं च नाशयन्ति ॥ २३ ॥

अन्याय की वृद्धि करके वाद्‌र्घुषिक राष्ट्र और देश का विनाश करते हैं ।

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ॥ २४ ॥

वाद्‌र्घुषिकोंको कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता ।

अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥ २५ ॥

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये औषध कड़वी हो तब भी पी जाती हैं ।

विशेषार्थ—प्रासङ्गिक अर्थ यह होगा कि इन राष्ट्रकण्टकों को नष्ट करने के लिये अप्रिय भी दमन-नीति अपनानी चाहिए।

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि छिद्यते ॥ २६ ॥

सर्प से डसी गई अपनी अङ्गुलि भी समस्त शरीर की रक्षा की दृष्टि से काट डाली जाती है।

[इति वार्त्ता समुद्देशः]

९. दण्डनीतिसमुद्देशः

दण्ड की आवश्यकता—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥

शारीरिक वात-पित्त-कफ आदि के दोषों को दूर करने के लिये जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र है उसी प्रकार राष्ट्र के दोषों को दूर करने के लिये दण्डनीति है।

दण्डनीति का स्वरूप—

यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ॥ २० ॥

दोष की न्यूनाधिकता के अनुसार ही दण्डविधान करना दण्डनीति है।

प्रजापालन दण्डविधान का उद्देश्य—

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥ ३ ॥

प्रजापालन के लिये राजा दण्ड का विधान करता है अर्थसंग्रह के लिये नहीं।

धनसंङ्ग्रहार्थ दण्ड-विधान की निन्दा—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोपमन्वेषयति ॥ ४ ॥

अपने जीवन निर्वाह के लिये लोगों को झूठ-मूठ रोगी बताने वाला वैद्य जैसे बुरा है उसी प्रकार वह राजा भी कुत्सित राजा है जो अपने निमित्त धन संग्रह के लिये प्रजा में दोषों को निकाल कर अर्थदण्ड करता है।

राजा द्वारा स्वयं अनुपभोग्य धन—

दण्डद्यूताहवमृतविस्मृतचौरपारदारिकप्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥ ५ ॥

जुर्माना करने से प्राप्त धन, जुए से प्राप्त, संग्राम में किसी के मर जाने से प्राप्त, किसी का भूला हुआ धन, चोरों का धन परस्त्रीगमन आदि से संबंध रखने वाला धन, प्रजा में विप्लव हो जाने पर लूट-पाट से आया हुआ धन इतने प्रकार के धनों को राजा स्वयम् उपयोग में न लावे।

अविवेकपूर्ण दण्डनीति से राज्य की क्षति—

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥

काम-क्रोध के वशीभूत होकर अथवा अज्ञानवश दिये गये दण्ड से राजा से समस्त प्रजा विद्वेष करने लगती है।

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति ॥ ७ ॥

यथा दोष दण्ड न देने से राज्य में 'मात्स्य-न्याय' की प्रवृत्ति होती है।

मात्स्य न्याय क्या है—

बलीयानबलं ग्रसति इति मात्स्यन्यायः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है उसी प्रकार दण्ड का डर न होने पर बलवान् निर्बल को सताते हैं। यही मात्स्य न्याय है।

इति दण्डनीतिसमुद्देशः।

---

१०. मन्त्रिसमुद्देशः

अहार्यबुद्धि राजा का लक्षण—

मन्त्रिपुरोहितसेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स अहार्यबुद्धिः ॥१॥

मन्त्री, पुरोहित और सेनापति इनकी युक्तियुक्त बात को जो राजा मानता है वह 'अहार्य बुद्धि होता है। अर्थात् शत्रुओं द्वारा वह बुद्धिबल में परास्त नहीं होता।

सत्सङ्गति का माहात्म्य—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ॥ २ ॥

डोरे में यद्यपि सुगन्ध नहीं होता तथापि क्या वह फूल के सम्पर्क से देवताओं के शिर पर नहीं चढ़ता।

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥ ३ ॥

महान् पुरुषों से प्रतिष्ठित पाषाण भी देवत्व को प्राप्त होता है तो फिर मनुष्य का क्या कहना है। अर्थात् क्षुद्र मनुष्य भी महत् पुरुषों के संयोग से महत्त्व को प्राप्त होता है।

तथा चानुभूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥ ४ ॥

जैसा कि इतिहास बताता है कि चंद्रगुप्त राज्य पद के लिये अनधिकारी होते हुए भी विष्णुगुप्त की कृपा से साम्राज्य पद को प्राप्त कर सका।

मन्त्रिपद के लिये अपेक्षित योग्यता—

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिन-

मव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपधिविशुद्धं च मन्त्रिणं कुर्वीत ॥ ५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक को जो अपने देश का हो, आचार व्यवहार और वंश से विशुद्ध हो, व्यसनी न हो, व्यभिचारी न हो, समस्त व्यवहार शास्त्र अर्थात् नीति और धर्मशास्त्र को पढ़ा हुआ हो, अस्त्र-शस्त्र जानने वाला हो और समस्त छल-छद्म से रहित हो, ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाना चाहिये ।

स्वदेश प्रेम का गौरव—

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥ ६ ॥

समस्त पक्षपातों में अपने देशका पक्षपात महान् है । अर्थात् मन्त्री अपने देश का हो इसका सर्वप्रथम ध्यान रखना चाहिये ।

दुराचार निन्दा—

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥ ७ ॥

विष सिञ्चन की भांति दुराचार सब गुणों को दूषित कर देता है ।

अकुलीन मन्त्री का दोष—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥ ८ ॥

अकुलीन मन्त्री राजा का घृणित अपराध करके मूर्खता वश लज्जा का अनुभव नहीं करता, (परिजन का अर्थ यहां नौकर चाकर न करके प्रसङ्ग वश कुल किया गया है) ।

व्यसनी मन्त्री से राजा की क्षति—

सव्यसनसचिवो राजा आरूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः ॥ ९ ॥

व्यसन शील मन्त्री वाले राजा का नाश दुष्ट हाथी पर चढ़ने वाले की तरह दुर्लभ नहीं होता अर्थात् शीघ्र ही संभव होता है ।

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥ १० ॥

जो विपत्ति में सहायक नहीं होता उससे क्या लाभ ।

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः ॥ ११ ॥

भोजन के लिये तो अनिमन्त्रित लोग भी सुलभ हो जाते हैं । अर्थात् सुख के साथी बिना ढूंढ़े भी मिल जाते हैं, पर दुःख के साथी नहीं होते ।

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥ १२ ॥

जो मन्त्री राजा की भलाई का और बुराई को दूर करने का उपाय न जानता हो उसकी भक्ति से क्या लाभ ।

असमर्थ अस्त्रवेत्ता की अनुपयोगिता—

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मन्त्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति ॥ १३ ॥

उस अस्त्र वेत्ता सहायक मन्त्री से क्या लाभ जिसका अस्त्र आत्मरक्षा में भी समर्थ न हो।

उपधा का लक्षण—

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा ॥ १४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और भय के विषय में गुप्तचर के द्वारा किसी व्याज से शत्रु राजा के चित्त की परीक्षा 'उपधा' है ('उपधा' राजा के मन्त्री के लिये गुण है)।

सोदाहरण अकुलीन मन्त्री के दोष—

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद् भयम् ॥ १५ ॥

जो मन्त्री कुलीन नहीं है उसे लोक निन्दा का भय नहीं होता अतः वह राजा का कोई भी अहित कर सकता है।

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः ॥ १६ ॥

पागल कुत्ते के विष के समान विजातीय मन्त्री समय पाकर विरोध करते हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पागल कुत्ते का विष कुछ समय बाद वर्षाकाल में अपना विकृत रूप प्रदर्शित करता है उसी प्रकार दूसरी जाति का मन्त्री कुछ समय तक राजा के अनुकूल चलकर बाद में प्रतिकूल हो सकता है।

कुलीनता का गुण—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसंभवः ॥ १७ ॥

कुलीन पुरुष अथवा मन्त्री में विश्वासघात आदि दोषों का होना अमृत के विष हो जाने के समान है। अर्थात् असंभव है।

ज्ञानी होने पर भी मन्त्री के ज्ञान की व्यर्थता—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मन्त्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार घड़े के भीतर जलाया गया दीपक बाहर अपना प्रकाश नहीं प्रसारित कर सकता, अतः व्यर्थ होता है उसी प्रकार मन्त्री अथवा किसी विद्वान् का वह ज्ञान व्यर्थ है जो राजा अथवा अन्य व्यक्ति का प्रतिबोध न कर सके अर्थात् अपनी बात दूसरों को समझा सकने की कला यदि मनुष्य में नहीं है तो उसका ज्ञानी होना व्यर्थ है।

सभीत मन्त्री की व्यर्थता—

तेषां शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद् भयमन्वयन्ति चेतांसि ॥ १९ ॥

शस्त्र की तरह-उन लोगों का वह शास्त्र ज्ञान भी व्यर्थ है जिन लोगों का चित्त प्रतिपक्षी अथवा प्रतिद्वन्द्वी को देखने से भयाकुल हो जाता है।

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरम् ॥ २० ॥

जो शस्त्र अथवा शास्त्र दूसरे के आक्रमण को न रोक सके वह अपने ही अनादर का कारण होता है।

नहि गली बलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥ २१ ॥

बोझा ढोने के लिये सुस्त बैल को कोई नहीं उपयोग में लाता।

विशेषार्थ—प्रसंगानुकूल यहां यह अर्थ है कि स्वस्थ सबल तथा अन्य बातों से युक्त मन्त्री यदि उत्साह सम्पन्न और स्फूर्ति से युक्त नहीं है, कार्यों में विलम्ब करता है तो राजा को उसे नहीं रखना चाहिए।

राजा के लिये मन्त्रणा की आवश्यकता—

मन्त्रपूर्वः सर्वोऽप्यारम्भः क्षितिपतीनाम् ॥ २२ ॥

राजाओं को अपना समस्त कार्य मन्त्रियों से परामर्श पूर्वक ही प्रारम्भ करना चाहिए।

मन्त्र-बल की उपयोगिता—

अनुपलब्धस्य ज्ञानम्, उपलब्धस्य निश्चयः, निश्चितस्य बलाधानम्, अर्थस्य द्वैधस्य संशयच्छेदनम्, एकदेशलब्धस्याशेषोपलब्धिरिति मन्त्र-साध्यमेतत् ॥ २३ ॥

अप्राप्त वस्तु, भूमि, देश कोष आदि का अनुसन्धान, उपलब्ध के विषय में पूर्ण निश्चयात्मक ज्ञान, निश्चित के विषय में भी प्रमाणान्तरों से पुष्टि करना, संशयात्मक विषय में संशय दूर करना; किसी वस्तु, भूमि, देश आदि का एक भाग प्राप्त हो जाने पर पूर्ण की प्राप्ति करना यह सब काम मन्त्रणा से सिद्ध होते हैं।

योग्य मन्त्री का लक्षण—

अकृतारम्भस्यारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितस्य विशेषविनियोग-सम्पदं च ये कुर्युस्ते मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

बिना किये हुए अर्थात् नये-नये कार्यों का प्रारम्भ करना, प्रारम्भ किये गये कार्यों का चालू रखना, और किये हुए अर्थात् पूर्ण कार्यों में उस के उपयोग की और व्यवहार की विशेषता बतलाना-इतना जो कर सकें वे मन्त्री होने योग्य हैं।

मन्त्रणा के अङ्ग—

कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद्, देशकालविभागोविनिपात-प्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः २५ ॥

विविध कार्यों को प्रारम्भ करने के साधन और युक्तियों को जानना, पुरुष अर्थात् सैन्यबल और द्रव्य अर्थात् कोष बल को रखना, देश और काल विभाग अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल समय तथा स्थान का ध्यान रखना, आनेवाली आपत्ति को दूर करने के उपाय कर लेना और कार्य सिद्धि को चरमलक्ष्य बनाना यह पांच मन्त्रणा के अङ्ग हैं।

मन्त्रणा के योग्य स्थान—

आकाशप्रतिशब्दवति चाश्रये मन्त्रं न कुर्यात् ॥ २६ ॥

चारों ओर से खुले हुये स्थान में तथा जहां प्रतिध्वनि होती हो ऐसे स्थानों पर मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए।

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्यूहन्ति विचक्षणाः ॥ २७ ॥

मुख की चेष्टाओं और हाथ के अभिनयअर्थात् घुमाने फिराने से तथा प्रतिध्वनि अर्थात् शब्दों की गूंज से भी चतुर पुरुष मन की बात जान लिया करते हैं।

मन्त्रणा को गुप्त रखने की अवधि—

आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मन्त्रः ॥ २८ ॥

जब तक कार्य सिद्ध न हो जाय तब तक अपनी मन्त्रणा (सलाह-मशविरा) को गुप्त रखना चाहिए।

मन्त्रणा के लिये आवश्यक विचार—

दिवानक्तं चाऽपरीक्ष्य मन्त्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नोवा भिनत्ति मन्त्रम् ॥ २९ ॥

रात और दिन का विचार न करके मन्त्रणा करने वाले की गुप्त मन्त्रणा का रहस्य अपने अनुकूल व्यक्ति अथवा इधर उधर छिपे हुए व्यक्ति प्रकट कर देते हैं।

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिः—अ-प्र-शि-ख-इति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः पादैः श्लोकमेकं चकारेति ॥३०॥

ऐसा सुना जाता है कि रात्रि के समय वट-वृक्ष के ऊपर छिपकर बैठे हुए वररुचि ने पिशाचों के द्वारा "अ-प्र-शि-ख" इन चार अक्षरों से सम्बन्धित वृत्तान्त सुनकर इन चार अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले चार पादों के एक श्लोक की रचना की,

अनेन तव पुत्रेण प्रसुप्तस्य वनान्तरे।
शिखामाक्रम्य पादेन, खड्गेनोपहतं शिरः ॥

अन्तर्गत कथा :

नन्द राजा का पुत्र हिरण्यगुप्त शिकार खेलते खेलते वनमें दूर निकल गया और रात को घर न लौट सका। उसने वहां सोते हुए अपने एक मित्र को खड्ग से मार डाला। मरते समय उस मित्रने 'अप्रशिख' इन चार अक्षरों का उच्चारण किया और उसकी मृत्यु हो जाने पर राजकुमार को पश्चात्ताप हुआ और वह पागल हो गया। राजदूत जब उसे महल में लाये तो उसका पिता नन्द उसकी विक्षिप्तावस्था देखकर बड़ा दुःखी हुआ। उसके द्वारा प्रतिक्षण उच्चारित अ-प्र-शि-ख इन चार अक्षरों को सुनकर उसका अर्थ जानने के लिये वह चिन्तित रहने लगा। अनन्तर उसके मन्त्री वररुचि ने वन में जाकर प्रच्छन्न रूप से बरगद के वृक्ष पर बैठकर पिशाचों द्वारा आपस की वार्ता में इस प्रसङ्ग को पूर्ण रूपसे जान लिया और उपर्युक्त श्लोक बनाकर राजा को सुनाया और अर्थ समझाया कि तुम्हारे इस पुत्र ने वन में सोए हुए मित्र की शिखा पैर से दबाकर तलवार से उसका सिर काट डाला।

मन्त्रणा के अयोग्य व्यक्ति—

न तैः सह मन्त्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥ ३१ ॥

(जिनके पक्ष के लोगों के साथ कोई अहित कार्य किया हो उनके साथ परामर्श न करे।)

अनायुक्तो मन्त्रकाले न तिष्ठेत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रणा के समय ऐसा कोई भी व्यक्ति वहां न रहे जिसको बुलाया न गया हो।

तथा च श्रूयते शुक-सारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ॥ ३३ ॥

सुना जाता है कि तोता, मैना तथा अन्य पशु-पक्षियों ने भी मन्त्रणा का रहस्य प्रकट कर दिया।

मन्त्र-भेद से उत्पन्न दोष की कठिनाई—

मन्त्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥ ३४ ॥

मन्त्रणा का रहस्य प्रकट हो जाने से उत्पन्न संकट बहुत कठिनाई से दूर होता है।

मन्त्र-भेद के कारण—

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मन्त्रभेदकारणानि ॥ ३५ ॥

इङ्गित (हाथ, आँख आदि का इशारा) मुख और शरीर की आकृति, मदपान, असावधानी और निद्रा ये पाँच मन्त्रभेद के मुख्य कारण हैं।

मन्त्रभेद के कारणों के लक्षण—

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥ ३६ ॥

हृदय के आशय को प्रकट करनेवाली चेष्टा इङ्गित है।

क्रोधप्रसादजनिता शारीरी विकृतिराकारः ॥ ३७ ॥

क्रोध अथवा हर्ष के कारण उत्पन्न शारीरिक विकार का नाम आकार है।

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥ ३८ ॥

मद्यपान और स्त्रीसंभोग आदि से उत्पन्न हर्ष मद है।

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥ ३९ ॥

नाम आदि के कहने में अक्षरों का उल्टा सीधा हो जाना प्रमाद है।

अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥ ४० ॥

अथवा कुछ करना चाहते हुए कुछ दूसरा करना प्रमाद है।

निद्रान्तरितो निद्रितः ॥ ४१ ॥

निद्रा के अधीन हो जाना निद्रितावस्था है।

मन्त्रणा के पश्चात् अविलम्ब कार्य की आवश्यकता—

उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥ ४२ ॥

मन्त्रणा कर लेने के अनन्तर उसके आचरण में विलम्ब न करे।

प्रयोग के बिना मन्त्र व्यर्थ है—

अनुष्ठानेच्छां विना केवलेन किं मन्त्रेण ॥ ४३ ॥

प्रयोग में लाने की इच्छा के बिना केवल मन्त्रणा से कोई लाभ नहीं होता।

न ह्यौषधपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥ ४४ ॥

केवल औषध जान लेने मात्र से व्याधि की शान्ति नहीं हो जाती।

अविवेक की निन्दा—

नास्त्यविवेकात् परः प्राणिनां शत्रुः ॥ ४५ ॥

अविवेक से बढ़कर प्राणियों का शत्रु दूसरा नहीं है।

स्वयं कार्य करने की आवश्यकता—

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादेव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥

अपने से किया जा सकने योग्य कार्य दूसरों से कराना औषध के मूल्य मात्र के द्वारा रोग को दूर करने की इच्छा के समान व्यर्थ है।

सहयोगी के हानिलाभ का अपने ऊपर प्रभाव—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥ ४७ ॥

जो जिससे सम्बद्ध है, उसका उसीके साथ वृद्धि और ह्रास होता है।

स्वामी की शक्ति ही सेवक को सबल निर्बल बनाती है—

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥ ४८ ॥

स्वामी के द्वारा सुप्रतिष्ठित भेड़ा भी सिंह के समान बली हो जाता है।

मन्त्रणा के समय ध्यान देने योग्य बातें—

मन्त्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ॥ ४९ ॥

मन्त्रणा के समय मन्त्रियों को परस्पर झगड़कर विवाद और मनमानी बातचीत न करनी चाहिए।

मन्त्रणा के योग्य व्यक्ति—

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मन्त्रो, लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम् ॥ ५० ॥

जो परस्पर विरोधी और ईर्ष्या-द्वेष वाले न हों तथा बहुत स्वच्छन्द आचरणवाले न हों उनके साथ परामर्श मन्त्रणा है और लघु साधनों से भी महान् कार्य सिद्धि मन्त्रणा का फल है।

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥ ५१ ॥

पत्थर हाथ से उस प्रकार नहीं उठाया जा सकता जैसा कि लकड़ी के सहारे से।

राजा की इच्छा मात्र का अनुसरण करना मन्त्री का दोष है—

स मन्त्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

वह मन्त्री नहीं शत्रु है जो राजा की इच्छा देखकर अकार्य को भी कार्य बतलाता है।

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ॥ ५३ ॥

इच्छा के विघात से स्वामी को दुःख होना अच्छा है, किन्तु न करने योग्य काम का उपदेश देकर उसका विनाश करना उचित नहीं है।

पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननम् ॥ ५४ ॥

अमृत अथवा अमृत के समान हितकारी औषध आदि को पीना न चाहने वाले बच्चे को क्या माता गाल में थप्पड़ लगाकर नहीं पिलाती।

मन्त्री की किसी से घनिष्ठता अनुचित है—

मन्त्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥ ५५ ॥

मन्त्रिगण राजा के दूसरे हृदय-रूप होते हैं अतः उनको किसी के साथ घनिष्ठ स्नेह आदि नहीं रखना चाहिए।

राजा और मन्त्री का एकचित्त होना—

राज्ञोऽनुग्रहणविग्रहावेव मन्त्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥ ५६ ॥

राजा की ही अनुकूलता और प्रतिकूलता मन्त्रियों की अनुकूलता प्रतिकूलता है अर्थात् राजा जिस पर कृपा करे अथवा जिससे द्वेष करे मन्त्रियों के लिये भी वे ही ग्राह्य और अग्राह्य होने चाहिएं।

राजा के भाग्यदोष का अवसर—

५७ दैवस्यापराधो न मन्त्रिणां यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ।।५७।।

जब मन्त्रियों द्वारा सुविचारित और सुनियोजित कार्य सिद्ध न हो तब उसमें मन्त्रियों का नहीं किन्तु दैव अर्थात् राजा का भाग्य दोष समझना चाहिए।

मन्त्री की उपेक्षा का दोष—

स खलु को राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्त्तेत ।। ५८ ।।

वह राजा राजा नहीं है जो मन्त्रियों के परामर्श का उल्लंघन करके व्यवहार करता है। अर्थात् हितैषी मन्त्रियों की बातें न मान कर चलने वाला राजा अपना राज्य खो बैठता है।

कार्यसिद्धि के लिये सुविचारित मन्त्रणा की आवश्यकता—

सुविवेचिताद् मन्त्राद् भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ।। ५९ ।।

राजा यदि हठी नहीं होता तो सुविचारित मन्त्रणा से कार्य सिद्धि अवश्य होती है।

राजा के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता—

अविक्रमतो राज्यं वणिक् खड्गयष्टिरिव ।। ६० ।।

राजा यदि पराक्रम का प्रदर्शन नहीं करता तो उस का राज्य बनिये की तलवार के समान है।

विशेषार्थ—व्यापारी आदमी तलवार चलाने में कुशल नहीं हो सकता अतः उसके पास तलवार का होना व्यर्थ होता है उसी प्रकार राजा भी यदि कुछ पौरुष न प्रदर्शित करे तो उसका राज्य व्यर्थ है।

नीति शास्त्र की उपयोगिता—

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ।। ६१ ।।

नीति-ज्ञान के द्वारा यथार्थ विषय का अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है।

पुरुषार्थ के लाभ—

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ।। ६२ ।।

हित की प्राप्ति और अहितकापरित्याग अपने पुरुषार्थ के अधीन है।

समय से कार्य करने की आवश्यकता—

अकालसहकार्यम् अद्यश्वीनं न कुर्यात् ।। ६३ ।।

विलम्ब से विगड़ जाने वाले कार्य में आज कल आज-कल करता हुआ विलम्ब न करे। अर्थात् कार्य समय से ही कर डालने पर ठीक होता है।

कालातिक्रमण से कार्यसिद्धि में कठिनता—

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यम् ॥ ६४ ॥

समय का उल्लङ्घन करने से नाखून से काटी जा सकने वाली चीज भी कुल्हाड़ी से काटने योग्य बन जाती है अर्थात् कार्य करने का समय बीत जाने पर सरल कार्य भी अत्यन्त कठिन हो जाता है।

समझदार की पहिचान—

को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥ ६५ ॥

कौन समझदार व्यक्ति सरलता से सिद्ध हो जाने वाले काम को कठिनाई से सिद्ध होने वाला अथवा असाध्य बनावेगा।

मन्त्रियों की संख्या के विषय में छह सूत्र—

एको मन्त्री न कर्त्तव्यः ॥ ६६ ॥

राजा को एक मन्त्री नहीं रखना चाहिए।

एको हि मन्त्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ॥ ६७ ॥

अकेला मन्त्री निरंकुश एवं स्वतन्त्र हो जाता है और कठिन काम आ पड़ने पर मोह-अज्ञान में पड़ जाता है समझ नहीं पाता कि क्या करे।

द्वावपि मन्त्रिणौ न कार्यौ ॥ ६८ ॥

दो मन्त्री भी न बनावे।

द्वौ मन्त्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ॥ ६९ ॥

दो मन्त्री परस्पर में सलाह करके राज्य का नाश कर डालते हैं।

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ॥ ७० ॥

यदि उन दोनों को दण्ड दिया जाता है तो वे राजा को ही नष्ट कर देते हैं। अतः—

त्रयः पञ्च सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥ ७१ ॥

अतः, तीन पांच अथवा सात मन्त्री राजा को रखना चाहिए।

मन्त्रियों में एकता की आवश्यकता—

विषमपुरुषसमूहदुर्लभमैकमत्यम् ॥ ७२ ॥

परस्पर प्रतिकूल विचार वाले पुरुषों-मन्त्रियों का एकमत हो जाना कठिन होता है।

परस्पर द्वेषी मन्त्रियों के दोष—

बहवो मन्त्रिणः स्वमतीरुत्कर्षयन्ति ॥ ७३ ॥

अनेक मन्त्री अपनी-अपनी राय-बात को उत्कृष्ट सिद्ध करना चाहते हैं और इस आपस की खींचतान से राजा का काम बिगड़ता है।

मन्त्रियों की स्वतन्त्र प्रकृति का दोष—

स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ॥ ७४ ॥

अनेक स्वतन्त्र प्रकृति के मन्त्री परस्पर एकमत नहीं होते ।

करने योग्य कार्य—

यद्बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥ ७५ ॥

ऐसा कार्य करना चाहिए जिसमें गुण बहुत हों और विनाश की सम्भावना न हो ।

दृष्टान्त—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥ ७६ ॥

जो वस्तु सुगमता से पच जाने वाली होती है वही खाई जाती है ।

विशेषार्थ—भोजन के दृष्टान्त से यहां राजा और मनुष्य को कर्तव्य का उपदेश दिया गया है कि जिसका परिणाम मङ्गलकारी हो, अपयश आदि न हो वही कार्य करना चाहिए ।

यथावर्णित गुण के एक दो मन्त्री से भी कार्य निर्वाह—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मन्त्रिणि न कोऽपि दोषः ॥ ७७ ॥

इस उद्देश्य के पांचवें सूत्र में वर्णित गुण समूह यदि एक या दो मन्त्री में मिलते हों तो ऐसे गुण सम्पन्न एक या दो मन्त्री भी रखने में दोष नहीं है ।

दृष्टान्त—

न हि महानप्यन्धसमवायो रूपमुपलभेत ॥ ७८ ॥

अन्धों का झुण्ड भी रूप ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् मन्त्री संख्या में बहुत हों पर मूर्ख हो तो उनसे कोई लाभ नहीं ।

दृष्टान्त—

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किन्न महति भारे नियुज्येते ॥ ७९ ॥

क्या उद्दाम बल वाले दो बैल महान् भारवहन के लिये नहीं नियुक्त होते ?

राजा के लिये अनेक सहायकों की आवश्यकता—

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ॥ ८२ ॥

जिस राजा के बहुत से सहायक होते हैं उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं ।

उक्त मत का समर्थन—

एको हि पुरुषो केषु कार्येष्वात्मानं विभजते ॥ ८१ ॥

अकेला आदमी कितने कार्यों के लिये अपने को विभाजित कर सकता है ? अर्थात् एक व्यक्ति राज्य के नानाप्रकार के कार्यों की स्वयं देख-भाल नहीं कर सकता अतः सहायकों का होना आवश्यक है।

दृष्टान्त—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया ॥ ८२ ॥

क्या एक शाखा वाले वृक्ष की विशाल छाया होती है।

अवसर की अपेक्षा से कार्य करना अनुचित है—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥ ८३ ॥

अवसर पड़ने पर अर्थात् आपत्ति आ जाने पर पुरुष समुदाय अर्थात् सहायकों का मिलना दुर्लभ होता है। अतः सहायकों का संग्रह पहले से करना चाहिए।

दृष्टान्त—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥ ८४ ॥

घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदना कहाँ तक उचित है ?

धनकी अपेक्षा सहायक संग्रह की उत्तमता—

न धनं पुरुषसंग्रहाद् बहु मन्तव्यम् ॥ ८५ ॥

धन को सहायक पुरुषों के संग्रह से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। अर्थात् धन बटोरने की अपेक्षा सहायकों का संग्रह अच्छा है।

दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेषूप्तं कार्यं शतशः फलति ॥ ८६ ॥

अच्छे खेत में बोये गये बीज से जिस प्रकार बहुत अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार अच्छे सहायकों में बांटा गया कार्य सुन्दर फल देता है।

कार्य पुरुष का लक्षण—

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ॥ ८७ ॥

बुद्धि अर्थात् सन्मति और सत्परामर्श, धन तथा संग्राम में सहायता देने वाले पुरुष कार्य पुरुष अर्थात् काम के आदमी होते हैं।

समर्थन—

खादनवेलायां को नाम न सहायः ॥ ८८ ॥

खाने के समय कौन नहीं सहायक होता है।

मूर्ख के साथ मन्त्रणा का निषेध—

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मन्त्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥ ८९ ॥

श्राद्ध में जिस प्रकार अश्रोत्रिय ब्राह्मण का अधिकार नहीं है उसी प्रकार मन्त्रणा देने के लिये मूर्ख को भी अधिकार नहीं है।

दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

किं नामान्धः पश्येत् ॥ ६० ॥

अन्धा क्या देखेगा ? ।

द्वितीय दृष्टान्त—

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥ ६१ ॥

क्या अन्धे के सहारे चलता हुआ अन्धा सम-मार्ग को पा सकता है ?

समर्थन—

तदन्धवर्त्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमन्त्रात् कार्यसिद्धिः ॥ ६२ ॥

मूर्ख पुरुष की मन्त्रणा से कभी-कभी कार्य का सिद्ध हो जाना संयोग वश अन्धे के हाथ बटेर आ जाने के तथा स्वयं गिरते हुए ताड़ के फल पर अकस्मात् कौवे के बैठ जाने के समान है ।

समर्थन—

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मन्त्रपरिज्ञानम् ॥ ६३ ॥

मूर्ख को मन्त्रणा का ज्ञान घुणाक्षरन्याय के समान है । लकड़ी का कीड़ा 'घुन' स्वेच्छा से लकड़ी खाता है उसमें कभी संयोग-वश किसी अक्षर की आकृति बन जाना जैसे सार्वकालिक या घुन की स्वाभाविक कला नहीं होती उसी प्रकार संयोग वश कभी ही मूर्ख अच्छी सलाह दे सकता है ।

मन्त्रणा के लिये शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥ ६४ ॥

बिना ज्योति के नेत्र के समान शास्त्र ज्ञान से शून्य मन कितना विचार कर सकता है ।

सेवक के लिये स्वामी की प्रसन्नता ही मुख्य है—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पाण्डित्यं वा ॥ ६५ ॥

स्वामी की कृपा से सम्पत्ति प्राप्त होती है कुलीनता और पाण्डित्य से नहीं ।

यथार्थ का गौरव अक्षुण्ण रहता है—

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव ॥ ६६ ॥

शङ्कर जी के गले में भी लगा हुआ कालकूट विष सर्वसाधारण के लिये मारक विष ही है ।

मूर्ख व्यक्ति पर राज्य-भार की निन्दा—

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥ ६७ ॥

मूर्ख पुरुष को राज्य भार सौंपना अपने ही वध के लिए 'कृत्या' उत्पन्न करने के समान है ।

कृत्या—अपने शत्रु का विनाश करने के लिये यज्ञानुष्ठान के द्वारा शक्ति विशेष या पुरुष विशेष को प्राप्त करना 'कृत्या' उत्पन्न करना कहा जाता है।

अविवेकी का शास्त्रज्ञान व्यर्थ है—

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥ ९८ ॥

कर्त्तव्य कर्म को न जानने वाले का अनेक शास्त्रों का ज्ञान व्यर्थ है।

गुणहीन व्यक्ति की निन्दा—

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥ ९९ ॥

प्रत्यञ्चाहीन धनुष पिंजन अर्थात् रुई धुनने की 'धुनकी' से भी अधिक कष्टदायक होता है। धुनकी से तो कम से कम रुई तो साफ हो जाती है। पर बिना डोर का धनुष क्या काम देगा?

मन्त्री के गौरव का कारण—

चक्षुष इव मन्त्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥ १०० ॥

जिस प्रकार आंख की प्रशंसा उसकी सूक्ष्मदर्शी ज्योति के कारण होती है उसी प्रकार मन्त्री का राजनीति का यथार्थ ज्ञान ही उसको गौरव प्रदान करता है।

शस्त्र और मन्त्र का अधिकार भिन्न-भिन्न है—

शस्त्राधिकारिणो न मन्त्राधिकारिणः स्युः ॥ १०१ ॥

शस्त्र के अधिकारी अर्थात् क्षत्रिय अथवा शस्त्रोपजीवियों को मन्त्रणा देने का अधिकार नहीं देना चाहिए।

क्षत्रिय का स्वभाव—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भण्डनम् ॥ १०२ ॥

क्षत्रिय बचाते बचाते हुए भी लड़ बैठता है।

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥ १०३ ॥

शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रियों को लड़ाई किये बिना खाया हुआ भात अर्थात् सूक्ष्म भोजन भी नहीं पचता।

मनुष्य के गर्व के हेतु—

मन्त्राधिकारः, स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥ १०४ ॥

जब कि मन्त्रिपद, राजा की कृपा और शस्त्र से आजीविका इन तीनों में से एक एक वस्तु भी पुरुष को मदमत्त करने में समर्थ होती है तो क्या इन तीनों का एकत्र होना उसे मदमत्त नहीं करेगा?

अधिकारी होने के अयोग्य व्यक्ति—

न लम्पटोऽधिकारी ॥ १०५ ॥

स्त्री, धनादि का लोभी पुरुष अधिकारी बनने योग्य नहीं है।

अर्थ लोभी मन्त्री के दोष—

मन्त्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राजकार्यमर्थोवा ॥ १०६ ॥

जब मन्त्री को धन की स्पृहा हो जाती है तब न तो राजा की कार्य सिद्धि होती है न धन होता है।

उदाहरण द्वारा उक्तनीति का समर्थन—

वरणार्थं प्रेषित एव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥ १०७ ॥

किसी के विवाहार्थ कन्या को देखने के लिये भेजा गया व्यक्ति ही जब उस कन्या से विवाह कर ले तो वर के लिये तप ही शरण है। प्रसङ्गानुसार आशय है कि यदि मन्त्री स्वयं ही अधिकार और धन-लोलुप हो जाय तो राजा क्या करेगा ?

दृष्टान्त—

स्थाल्येव भक्तं चेद् स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥ १०८ ॥

बटलोई ही अगर भात को स्वयं खाने लगेगी तो भोजन करने वाले को किस प्रकार भोजन मिल सकेगा ?

मानवीय शुचिता की सीमा—

तावत् सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहोयावन्न परस्त्रीदर्शनमर्थागमोवा ॥१०६॥

तब तक सभी मनुष्य शुद्ध और निःस्पृह होते है जब तक उनको परस्त्री दर्शन और धनागम नहीं होता है।

निर्दोष को दोषी सिद्ध करने से, हानि—

अदुष्टस्य हि दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥ ११० ॥

निर्दोष को दोषी बनाना सोए हुए सर्प को जगाने के समान है।

एक बार फटा मन फिर नहीं जुड़ता—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः ॥१११॥

एक बार फटे हुए मन को स्फटिक के कङ्गन के समान कौन दुबारा जोड़ सकता है।

मेल की अपेक्षा वैर सहज होता है—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥ ११२ ॥

बहुत बड़े उपकार के कार्य से भी चित्त में उतना अनुराग नहीं उत्पन्न होता जितना कि थोड़े से भी अपकार से विराग होता है।

क्षति प्राप्त पुरुष की प्रतिक्रिया—

सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥ १ ॥

जिन के प्रति कोई अपकार या अपराध किया गया हो ऐसे व्यक्ति 'सूची मुख' जाति के सर्प के समान बिना हानि पहुँचाए विश्राम नहीं लेते ।

अतिकामी के दोष—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥ ११४ ॥

अत्यधिक कामी पुरुष ऐसा कोई अकार्य नहीं है जो वह न करे ।

दृष्टान्त—

श्रूयते किल हि कामपरवशः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥ ११५ ॥

पुराणादि की कथा में सुना जाता है कि कामातुर ब्रह्मा अपनी कन्या पर, कृष्ण गोपों की स्त्रियों पर, महादेव शान्तनु की स्त्री गङ्गा पर इन्द्र गौतम ऋषि की पत्नी अहल्यापर और चन्द्रमा बृहस्पति की पत्नी तारा पर कामासक्त हुए ।

धन की स्पृहा स्वाभाविक है—

अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किंपुनर्मनुष्याः ॥ ११६ ॥

फल पुष्पादि का स्वयम् उपभोग न करने वाले वृक्ष भी जब फल पुष्परूप अर्थ के इच्छुक होते हैं तो फिर मनुष्यों का क्या कहना है । वह तो अर्थ का स्वयम् उपभोग करता है उसे तो धन की स्पृहा होगी ही ।

धन प्राप्ति से लोभ वृद्धि—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥ ११७ ॥

धन का लाभ होने लगने पर किसे लोभ नहीं होता ?

प्रत्यक्ष देवता का स्वरूप—

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥११८॥

निश्चय की वह प्रत्यक्ष देवता है जिसकी पराये धन के समान ही परस्त्री में स्पृहा नहीं होती ।

आय-व्यय में विवेक की आवश्यकता—

समायव्ययः कार्यारम्भो राभसिकानाम् ॥ ११९ ॥

बिना विवेक के तुरन्त कार्य अथवा व्यापार अर्थात् जल्दबाजी में काम करने वाले को काम का लाभ नहीं होता । लाभ हानि बराबर हो जाता है ।

महामूर्खता के लक्षण—

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥ १२० ॥

जो महामूर्ख होते हैं वे ही बहुत क्लेश साध्य किन्तु स्वल्प फल वाले कार्य आरम्भ करते है।

कापुरुष का लक्षण—

दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् ॥ १२१ ॥

दोष के भय से कार्य न करना कापुरुष का लक्षण है।

दृष्टान्त—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते ॥ १२२ ॥
अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ॥ १२३ ॥

मृग हैं इसलिए क्या कोई खेती नहीं करता। और अजीर्ण के भय से क्या कोई भोजन छोड़ देता है?

विघ्नों की अनिवार्यता—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥ १२४ ॥

इस संसार में क्या कोई ऐसा भी है या होगा जिसके कार्य में विघ्न न होते हों।

दुष्टात्मा की कार्य पद्धति—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् ॥ १२५ ॥

अपने प्राणों को संशय में डालकर कार्य प्रारम्भ करना दुष्टात्माओं का कार्य है।

महापुरुष की पहिचान—

दूरभीरुत्वमासन्नशूरत्वं (रिपुं प्रति) महापुरुषाणाम् ॥ १२६ ॥

महापुरुष लोग शत्रु जब तक दूर रहता है तब तक तो उससे डरते हैं किन्तु जब वह आक्रमण कर समीप आ जाता है तब अपनी शूरता का प्रदर्शन करते हैं।

मृदुता के गुण—

जलवन्मार्दवोपेतः पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥ १२७ ॥

जिस प्रकार कोमल जल प्रवाह बड़े-बड़े पर्वतों को भी फोड़ कर गिरा देता है उसी प्रकार मृदुतायुक्त राजा भी बड़े-बड़े राजाओं का विनाश कर देता है।

प्रियवादिता के लाभ—

प्रियम्बदः शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति ॥ १२८ ॥

प्रिय बाणी वाला मयूर जिस प्रकार दर्प युक्त सर्पों को नष्ट कर देता है उसी प्रकार प्रियवक्ता राजा भी सदर्प शत्रुओं का विनाश कर देता है।

महापुरुष का स्वभाव—

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥

दूसरों का सदाशय और दुराशय जाने विना महापुरुष अपने मन की बात नहीं प्रकट करते ।

महान् व्यक्ति से सम्भाषण का लाभ—

क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः ॥ १३० ॥

महापुरुषों का सम्भाषण दूधवाले वृक्ष की तरह फल सम्पादन करता है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पत्ता या छाल निकालने पर जिनमें दूध निकल आता है ऐसे वृक्ष मीठा फल देते है उसी प्रकार महापुरुषों की बातचीत से भी अच्छा परिणाम निकलता है ।

नीच को वश में लाने का उपाय—

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ॥

काँटे या ऊँचाई के कारण न चढ़े जा सकने योग्य वृक्षों का फल जैसे दण्ड से पीटने पर ही गिरता है उसी प्रकार नीच प्रकृति के पुरुष भी दण्डदान से ही फलीभूत या वशीभूत होते हैं ।

महान् पुरुष का लक्षण—

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ॥ १३२ ॥

महान् वही है जो विपत्ति में धैर्य धारण करे ।

आकुलता दोष है—

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ॥ १३३ ॥

आकुल हो उठना समस्त कार्यों की सिद्धि के निमित्त प्राथमिक या प्रारम्भिक विघ्न है ।

कुलीन का लक्षण—

शरद्घना इव न खलु वृथालापं गलगर्जितं वा कुर्वन्ति सत्कुलजाताः ॥ १२४ ॥

उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति शरत्कालीन मेघ की गर्जना के समान व्यर्थ आलाप नहीं करते ।

सुन्दर-असुन्दर का भेद—

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा, किन्तु यदेव यस्य प्रकृतितो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥ १३५ ॥

स्वभाव से ही कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर नहीं होती किन्तु जिसकी प्रकृति से जिसका मेल बैठता है अथवा जिस किसी को स्वभाव से ही जो वस्तु अच्छी लगती है वही उसके लिये सुन्दर होती है ।

दृष्टान्त—

न तथा कर्पूररेणुना प्रीतिः केतकीनां यथाऽमेध्येन ॥ १२६ ॥

केतकी के वृक्ष को कपूर की रज से वह प्रसन्नता नही होती जितनी अमेध्य वस्तु गोबर आदि की खाद से। केतकी का वृक्ष कपूर का चूरा डालने से नहीं किन्तु खाद डालने से बढ़ता है।

अधिक क्रोध से प्रभुता की हानि—

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥

जो पुरुष अत्यन्त क्रोधी होता है उसकी प्रभुता अग्नि में पतित लवण खण्ड अर्थात् नमक के टुकड़े की भांति सौ-सौ टुकड़े हो जाती है। अर्थात् खण्डित होकर नष्ट हो जाती है।

गुणों के नष्ट होने का कारण—

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥ १३८ ॥

उचित अनुचित का ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है। जिसे भले बुरे का ज्ञान न रहा वह गुणशाली होते हुए भी निर्गुण है।

गुप्त रहस्य दूसरों से न कहना चाहिए—

परस्य मर्मकथनम् आत्मविक्रय एव ॥ १३६ ॥

दूसरे को अपना गुप्त भेद बता देना उसके हाथ अपने को बेच देना ही है। क्योंकि तब उस व्यक्ति से यह डर सदा बना रहेगा कि कहीं यह व्यक्ति मेरा भेद न खोल दे और मैं विपत्ति में पड़ जाऊं इस प्रकार उसकी सदा अनुनय-विनय ही करनी पड़ेगी।

शत्रु पर विश्वास घातक है—

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥ ४० ॥

शत्रु पर विश्वास करना 'अजाकृपाणीय' है बकरी बकरे का मांस खाने वालों का खड्ग कब बकरी या बकरे पर गिरेगा, जैसे यह निश्चय नहीं उसी प्रकार विश्वस्त शत्रु कब वध कर देगा वह निश्चय नहीं कहा जा सकता। अतः शत्रु पर विश्वास उचित नहीं।

चञ्चलता से हानि—

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ॥ १४१ ॥

चञ्चल चित्त वाला व्यक्ति कोई भी काम पूरा नहीं करता।

राजा की स्वेच्छाचारिता का दोष—

स्वतन्त्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥ १४२ ॥

स्वतन्त्र व्यक्ति, प्रसङ्गानुसार, मन्त्रियों से परामर्श न लेकर एकाएक कार्य करने वाला राजा अपना सर्वनाश कर बैठता है।

आलसी की अयोग्यता—

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥ १४३ ॥

आलसी व्यक्ति समस्त प्रकार के कार्यों के अयोग्य होता है।

प्रमाद का दोष—

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ॥ १४४ ॥

प्रमादी अर्थात् असावधान रहने वाला निश्चय ही शत्रु के वश में आ जाता है।

अनुकूल को प्रतिकूल न करने का उपदेश—

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ॥ १४५ ॥

जो व्यक्ति अपने अनुकूल रहता हो या हो ऐसे किसी एक भी व्यक्ति को प्रतिकूल न होने दे।

गुप्त भेद की रक्षा की आवश्यकता—

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः ॥ १४६ ॥

प्राण से भी अधिक गुप्त भेद की रक्षा करनी चाहिये।

गुप्त बात का फूटना तरह-तरह के विघ्न उत्पन्न करता है अतः यहां विघ्न-वाचक प्रत्यवाय शब्द का 'गुप्त रहस्य' अर्थ करना उचित है।

अपनी शक्ति समझने की आवश्यकता—

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थान-मिव ॥ १४७ ॥

अपनी शक्ति का अनुमान न करके वैर ठान लेना मरते समय चींटियों और फतिङ्गों को पर निकलने के समान है।

शत्रु से सद्व्यवहार की अवधि—

कालमलभमानोऽपकर्त्तरि साधु वर्त्तेत ॥ १४८ ॥

अपने अनुकूल समय न पाकर मनुष्य को अपने अपकारी अथवा शत्रु के प्रति सद्व्यवहार करते रहना चाहिए।

दृष्टान्त—

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ॥ १४९ ॥

जलाने वाली लकड़ी को क्या लोग शिर पर नहीं ढोते?

दृष्टान्त—

नदीरयस्तरूणामङ्घ्रीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥ १५० ॥

नदी का वेग वृक्षों की जड़ को जो उसके चरण के समान हैं—धोते-धोते भी उखाड़ देता हैं जिससे पेड़ गिर जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त मृदु व्यवहार करते हुए भी शत्रु का उन्मूलन किया जा सकता है।

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥ १५१ ॥

उत्सेक अर्थात् अपनी शक्ति का मद सिद्ध होते हुए भी काम को बिगाड़ देता है।

उपायज्ञ की प्रशंसा—

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य ॥ १५२ ॥

शत्रु नाश के विविध उपायों को जानने वाले के लिये छोटा बड़ा किसी प्रकार का उपद्रव या विघ्न नहीं होता अर्थात् छोटा बड़ा कैसा भी शत्रु नहीं ठहर सकता।

दृष्टान्त—

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणाङ्घ्रिपान् ॥ १५३ ॥

नदी का प्रवाह किनारे के तृणों अर्थात् छोटी मोटी घासों और बड़े-बड़े वृक्षों को समान रूप से विनष्ट कर देता है।

युक्त वचन को ग्रहण करना कर्तव्य है—

युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥ १५४ ॥

बच्चों की भी बात युक्तियुक्त हो तो मान लेनी चाहिए।

दृष्टान्त—

रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥ १५५ ॥

जहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता क्या वहां दीपक अपना प्रकाश नहीं करता ?

दृष्टान्त—

अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥ १५६ ॥

छोटा सा भी झरोखा या रोशनदान बहुत सी चीजों को प्रकाश में ला देता है। अर्थात् जिस प्रकार किसी अन्धकार पूर्ण स्थान में बनाया गया छोटा सा भी झरोखा बहुत सी चीजों को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार बालक की भी बहुधा नीति पूर्ण और युक्तियुक्त बात अनेक समस्याओं का समाधान कर सकती है।

व्यर्थ बोलने का दोष—

पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचः, ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारम् ॥ १५७ ॥

कन्या के समान वाणी भी पराया धन है—दूसरों के लिये है—उसे यदि निरर्थक प्रकाशित किया जाता है—व्यर्थ वचन बोला जाता है—तो जिस प्रकार निरर्थक अर्थात् निर्धन अथवा अकर्मण्य या नपुंसक को दी गई कन्या पिता को श्राप देती है उसी प्रकार बिना प्रयोजन की वाणी वक्ता को श्राप देती है। व्यर्थ का वचन नहीं बोलना चाहिए।

मूर्ख के समक्ष हितोपदेश अनावश्यक—

तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यत्र न विशेषज्ञः ॥ १५८ ॥

जहां जिस बात के विशेष जानकार न हों वहां कही गई ठीक बात भी अयुक्त—अनुचित लगती है।

स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥१५९॥

उस वक्ता को भूत लगा हुआ अथवा वातव्याधि से युक्त समझना चाहिए जो न सुनने वाले को अपनी बात सुनाता है।

इन दो सूत्रों का आशय है कि मूर्ख या हठी को उपदेश न दे।

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः ॥ १६० ॥

नीति के अनुसार न चलने वाले की श्री वृद्धि बुझते हुए दीपक की लौ के समान है। जिस प्रकार बुझते समय दीपक एक बार तेज प्रकाश कर शीघ्र बुझ जाता है उसी प्रकार नीति का पालन न करने वाले की बढ़ती कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाती है।

कृतघ्न सेवक की दशा—

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव ॥ १६१ ॥

जो सेवक अपने स्वामी के ही पद की कामना करने लगे उसे प्राणत्याग करना पड़ता है।

दुष्टों के प्रति नीति—

बहुदोषेषु क्षणदुःखप्रदोपायोऽनुग्रह एव ॥ १६२ ॥

बहुत दोष वाले व्यक्तियों को क्षण भरके लिये दुःखप्रद अर्थात् मृत्युदण्ड आदि राजा के लिये अनुग्रह ही है अतः इससे कण्टक दूर होकर राज्य वृद्धि होगी।

कृत्या का लक्षण—

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताः कृत्याः ॥ १६३ ॥

स्वामी के अथवा अपने दोषों के कारण जिन की वृद्धि—जीविका के साधन—नष्ट हो गये हैं ऐसे क्रोधी लोभी, भयभीत और अपमानित व्यक्ति

कृत्या--यज्ञ अनुष्ठान आदि के विधिवत् सम्पन्न न होने से उस के द्वारा उत्पन्न, कर्त्ता के लिये ही घातक व्यक्ति या विनाशकारी वायु—के समान हैं।

कृत्या को वश में करने का उपाय—

अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः ॥ १६४ ॥

इन उपर्युक्त प्रकार की कृत्याओं को वश में करने के उपाय हैं—उनकी इच्छानुसार कार्य कर देना, उनको अभय दान देना, अर्थदान देना, पुनः उनका सत्कार करना अर्थात् नोकरी आदि दे देना।

राजा की सामान्यनीति—

क्षयलोभविरागकारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ॥ १६५ ॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रकृति मन्त्री सेनापति आदि अथवा साधारण प्रजा के विनाश, लोभ और वैराग्य का हेतु न बने अथात् प्रजा में इन बातों को न पैदा होने दे।

प्रजा के असन्तोष की महत्ता—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥ १६८ ॥

प्रकृति प्रजा अथवा अमात्यादि का कोप सब कोपों से बढ़कर है।

दुष्टों के योग्य कार्य—

अचिकित्स्य-दोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥ १६७ ॥

जिनके दोष किसी प्रकार दूर ही न किये जा सकते हों ऐसे दुष्टों को खाई, किला, पुल बाँध आदि के कार्यों में लगाकर पीडित करे।

गोष्ठी के अयोग्य व्यक्ति—

अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् ॥ १६८ ॥

अपराधी और अपराध करानेवालों के साथ उठना-बैठना आदि छोड़ दे।

दृष्टान्त—

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥ १६९ ॥

ऐसे व्यक्ति घर में प्रविष्ट सर्प की भांति समस्त प्रकार के दुःखों के लिये आगमन-द्वार होते हैं।

किसके आगे न आवे—

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥ १७० ॥

किसी भी क्रोधी के सामने न आवे।

दृष्टान्त—

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव दोषविषमुत्सृजति ॥१७१॥

क्रोधी व्यक्ति सर्प के समान होता है वह जिसे ही आगे पाता है उसी पर अपना क्रोधरूपी विष उगलता है।

कार्य के समय योग्य व्यक्ति का ही आगमन श्रेयस्कर है—

अप्रतिविधातुरागमनाद् वरमनागमनम् ॥ १७२ ॥

जो किसी बात का प्रतीकार न कर सके अर्थात् आई हुई आपत्ति आदि को दूर न कर सके ऐसे आदमी का न आना ही आने से अच्छा है। क्योंकि ऐसा आदमी कुछ काम तो आवेगा नहीं और व्यर्थ समय नष्ट करेगा।

[इति मन्त्रिसमुद्देशः]

---

११. पुरोहितसमुद्देशः

राजपुरोहित के गुण—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे, दैवे, निमित्ते, दण्डनीत्यां च प्रवीणमथर्वज्ञमतिविनीतमभिनीतम्, आपदां दैवीनां मानुषीणाञ्च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत ॥ १ ॥

राजा अपना पुरोहित ऐसा चुने जिसमें निम्न गुण हों। प्रख्यातवंश और शील-स्वभाव वाला, शिक्षा, व्याकरण आदि षडङ्ग युक्त वेद में निष्णात, दैवी तथा ग्रहादि के कारण उत्पन्न होनेवाले उत्पात दूर करने में निपुण, शासन में प्रवीण अथर्ववेद में उक्त अभिचार और शान्तिकर्म का ज्ञाता, अत्यन्त विनययुक्त और सुसंस्कृत अथवा मैत्रीपूर्ण, दैवी और मानुषी आपत्तियों को दूर करने वाला।

राजा के लिये मन्त्री और पुरोहित की महत्ता—

राज्ञो हि मन्त्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद् वाञ्छितेषु विसूरयेत्, दुःखयेद्दुर्विनयेद् वा ॥ २ ॥

राजा के लिये मन्त्री और पुरोहित माता और पिता के समान हैं अतः उनको किसी भी अभिलषित वस्तु के लिये दुःखित अथवा तिरस्कृत न करे।

आपत्तियों की गणना—

अमानुषोऽग्निः, अवर्षम्, अतिवर्षम्, मारको, दुर्भिक्षम् सस्योपपघातः, जन्तूत्सर्गो, व्याधि-भूत-पिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक क्षोभश्चेत्यापदः ॥ ३ ॥

आपत्तियां निम्न प्रकार की हैं—बिजली गिरने से अथवा उल्कापात से अग्नि लग जाना, वर्षा का न होना, अतिवृष्टि का होना, महामारी, हैजा, प्लेग आदि का फैलना, अकाल पड़ना, पौधों में कीड़ों का लगना, टिड्डी दल आदि का आना, रोग, भूत-पिशाच, डाकिनी शाकिनी अर्थात् चुडैल आदि सर्प और अन्य हिंसक जन्तु तथा चूहों आदि का उपद्रव।

राजकुमारों की शिक्षा के विषय—

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिषु, प्रसंख्याने पद-प्रमाण-प्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु, रत्नपरीक्षायां सम्भोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥ ४ ॥

राजा को चाहिए कि जब राजकुमार शिक्षा ग्रहण करने योग्य, बातचीत के योग्य और काम-काज करने योग्य हो जाय तब उसे सब प्रकार की लिपियों में, गणित में, व्याकरण और न्याय शास्त्र के व्यावहारिक प्रयोग में नीति-शास्त्रों में, रत्न परीक्षा में, काम शास्त्र, संग्राम विद्या और तरह तरह की सवारियों की विद्या में भली प्रकार सुशिक्षित बनावे।

गुरुसेवा—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं, नियमो विनीतता च गुरूपासनकारणानि ॥ ५ ॥

स्वच्छन्द न होना, गुरु की आज्ञाओं का पालन करना, नियमपूर्वक रहना और विनीत होना, ये सब गुण गुरु की उपासना के कारण हैं।

विनय का स्वरूप—

व्रतविद्यावयोऽधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥ ६ ॥

किसी व्रत विशेष के पालन से, ज्ञान से और अवस्था से जो अपने से उत्कृष्ट हों उनके आगे अत्यन्त विनम्र-व्यवहार करना विनय है।

विनय का फल—

पुण्यावाप्तिः, शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं, सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥ ७ ॥

पुण्य की प्राप्ति, शास्त्र के गूढ रहस्य का ज्ञान और सत्पुरुषों के साथ समागम यह सब विनय के फल हैं। विनय से ये चीजें अनायास प्राप्त होती हैं।

परम्परागत ज्ञान की आवश्यकता—

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥ ८ ॥

कोई भी काम यदि उसके जानने वालों से परम्परागत प्राप्त होता है और

उसका अभ्यास किया जाता है तो उस कर्म में कुशलता अवश्य प्राप्त होती है।

गुरु की आज्ञा का पालन—

गुरुवचनमनुल्लङ्घनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः ॥९॥

जो धर्मानुकूल हों, उचित आचरण के प्रतिकूल न हों तथा जिनसे आत्म-कल्याण होता हो ऐसे गुरुवचनों का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए।

गुरु की विशेषता—

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी ॥ १० ॥

यदि शिष्य गुरु के प्रतिकूल बोलने वाला नहीं है तो उसके लिये उचित और अनुचित कर्त्तव्यों को गुरु ही जानता है।

क्रोधित गुरुजनों के प्रति कर्त्तव्य—

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥ ११ ॥

गुरु लोग जब कुपित हों तब उत्तर न देना और सेवा करना ही उस क्रोध की शान्ति के लिये औषध है।

गुरु के प्रति कर्त्तव्यों का निर्देश—

शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्योन पुनर्गुरूणाम् ॥ १२ ॥

पुरुष वह प्रशंसनीय है जो शत्रुओं से मोर्चा ले न कि गुरुओं से।

आराध्यं न प्रकोपयेद् यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी ॥ १३ ॥

यदि आराध्य गुरु अपने आश्रितों के सदा कल्याणकामी हों तो उनको कुपित नहीं करना चाहिए।

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥ १४ ॥

यदि इहलोक और परलोक की फलप्राप्ति में बाधा न पड़ती हो तो गुरुओं के वचन का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए।

सन्दिहानो गुरुम् अकोपयन्नापृच्छेत् ॥ १५ ॥

पढ़ते समय किसी बात में संशय होने पर गुरुजी क्रोधित न हों इस बात का ध्यान रखते हुए सन्दिग्ध विषय को पुनः पूछ ले।

गुरूणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम् ॥ १६ ॥

गुरुओं के आगे मनमाने ढंग से न बैठें।

नानभिवाद्योपाध्यायाद् विद्यामाददीत ॥ १७ ॥

अभिवादन किये बिना गुरु से विद्या न ग्रहण करे।

अध्ययनावस्था का आचार—

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न व्रजेत् ॥ १८ ॥

अध्ययन के समय विरोधी विचार, चञ्चलता और अन्यमनस्कता न करे।

सहाध्यायी के प्रति कर्त्तव्य—

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत ॥ १६ ॥

अपनी बुद्धि यदि अन्य छात्रों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हो तो उससे सहपाठियों का पराभव-तिरस्कार न करे।

गुरु के साथ व्यवहार—

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत ॥ २० ॥

अपनी बुद्धि यदि गुरु से अधिक श्रेष्ठ हो तो उससे गुरु का अनादर न करे।

सकिमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥ २१ ॥

क्या वह पुत्र कुलीन कहा जा सकता है जो कि माता अथवा पिता के प्रति शूरता प्रदर्शित करता है।

अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥ २२ ॥

गुरु से बिना आज्ञा लिये हुए कहीं न जाय।

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् ॥ २३ ॥

लम्बे मार्ग पर, पहाड़ पर और जलाशय पर अकेले नहीं जाना चाहिए।

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥ २४ ॥

पिता के समान ही गुरु की सेवा करे।

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥ २५ ॥

गुरुपत्नी को माता के समान देखे।

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ॥ २६ ॥

गुरु के समान ही गुरु पुत्र को भी समझे।

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥ २७ ॥

साथी ब्रह्मचारियों और सहपाठियों के साथ बान्धवों के समान स्नेह करे।

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ॥ २८ ॥

सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे अनन्तर गोदान करके विवाह करे।

पढ़ने का क्रम—

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत ॥ २९ ॥

पढ़े हुए विषय का अपने सहपाठियों के साथ सदा अभ्यास करे।

अपनी दुर्दशा का गुप्त रखना—

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

अपने घर की दुरवस्था आगन्तुकों के आगे न प्रकाशित करे।

कुछ स्वाभाविक मनः स्थितियां—

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥ ३१ ॥

पराये घर में सभी विक्रमादित्य के समान पराक्रम प्रदर्शित करने को उद्यत होते हैं।

स खलु महान् स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते ॥ ३२ ॥

महान् वह है जो अपने काम के समान पराये काम में भी उत्साह प्रदर्शित करे।

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥ ३३ ॥

दूसरे के कार्य के लिये कौन नहीं मन्दोत्साह होता। स्वभावतः लोग पराये काम के लिये उत्साही नहीं होते।

राजासन्नः को नाम न साधुः ॥ ३४ ॥

राजा के समीप कौन नहीं साधु बन जाता अर्थात् राजा के समीपवर्ती होने पर राजदण्ड के भय से सभी लोग सद्व्यवहार करते हैं।

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥ ३५ ॥

लोभी से अनुनय-विनय करना केवल अपनी दीनता प्रदर्शित करना है।

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥ ३६ ॥

कौन धनार्थी प्रणाम से सन्तुष्ट होता है अर्थात् धन मांगने वाला धन पाने से ही प्रसन्न हो सकता है प्रणाम मात्र से नहीं।

समस्त आश्रितों के प्रति समान व्यवहार का उपदेश—

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकारणेऽपि प्रियदर्शनालापाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तन्त्रं वर्धयत्यनुरंजयति च ॥ ३७ ॥

आश्रितों में प्रयोजन-वश किसी विशेष व्यक्ति से अधिक कार्य निकलने पर भी राजा को चाहिये कि वह समस्त आश्रितों के प्रति समान प्रेम संभाषण और दर्शन व्यवहार रक्खे। सर्वत्र सम व्यवहार करने से राज्य की वृद्धि होती है और प्रजा का अनुरञ्जन होता है अर्थात् प्रजा अनुरक्त बनी रहती है।

(तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥ ३८ ॥)

स्वल्प धनवाले अर्थात् दरिद्र से धन लेना मरे हुए को मारने के समान है।

(अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥ ३९ ॥)

जो व्यक्ति कार्य की सिद्धि में असमर्थ हो उससे अपने कार्य के लिये निवेदन करना जंगल में रोने के समान व्यर्थ है।

(दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव ॥ ४० ॥)

हठी को हित उपदेश देना बहिरे के आगे गाने के समान निष्फल है।

अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्त्तनमिव ॥ ४१ ॥

कर्त्तव्य ज्ञान से शून्य पुरुष को शिक्षा देना अन्धे के आगे नाचने के समान व्यर्थ है।

अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव ॥ ४२ ॥

विचारशून्य व्यक्ति से युक्तियुक्त बात कहना भूसे को कूटने के समान निरर्थक है।

नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥ ४३ ॥

नीच व्यक्तियों के साथ उपकार करना पानी में बिखेरे गये नमक के समान है।

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥ ४४ ॥

विशेष बुद्धि न रखने वाले अर्थात् मूर्ख को समझाने का प्रयास सूखी नदी में तैरने के समान है।

परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव ॥ ४५ ॥

परोक्ष में किया गया उपकार सोये हुए व्यक्ति के पैर दबाने के समान है।

अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥ ४६ ॥

अनवसर में कही गई बात ऊसर जमीन जोतने के समान है।

उपकृत्योद्घाटनं वैरकरणमिव ॥ ४७ ॥

उपकार करके उसे प्रकाशित करना शत्रुता करने के समान है।

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव ॥ ४८ ॥

परिणाम में कुछ न कर सकने वाले व्यक्ति का प्रसन्न होना काश के फूल के समान है। 'काश' में केवल फूल होते हैं फल नहीं लगते उसी प्रकार जो व्यक्ति अथवा नृपति न कुछ भलाई कर सके न कुछ द्रव्य आदि दे सके उसे प्रसन्न करना या उसकी कृपा व्यर्थ है।

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहाभिनिवेश इव ॥ ४९ ॥

गुण और दोष का निश्चय किये बिना अनुग्रह अथवा निग्रह—दण्ड देना—राहु, केतु आदि ग्रहों के अभिनिवेश के समान है अर्थात् अपना ही बाधक होता है।

उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव ॥ ५० ॥

उपकार अथवा अपकार करने में असमर्थ व्यक्ति को संतुष्ट करना अपना ही परिहास कराना है।

शूद्रस्त्रीविद्रावणकारी गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥ ५१ ॥

केवल गाँद भर के लिये शूर आदमी का गरजना चिल्लाना शूद्रों और स्त्रियों को ही भयभीत करने वाला होता है अर्थात् जो वस्तुतः शूर नहीं होता उससे चतुर पुरुष भयभीत नहीं होते।

स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यः ॥ ५२ ॥

मनुष्य का वही धन धन है जो दूसरों के उपभोग में आवे।

स ननु व्याधिर्यः स्वस्यैवोपभोग्यः ॥ ५३ ॥

वह धन निश्चय एक व्याधि के समान है जो केवल अपने भोग के योग्य हो।

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूयागर्भं बहुषु दोषं प्रकाशयन् शिक्षते ॥ ५४ ॥

जो अपने शिष्य, पुत्र अथवा मित्र के दोषों की निन्दा करते हुए बहुतों के प्रकाश में लावे और तब शिष्यादि को शिक्षा देना चाहे वह गुरु, पिता और मित्र निन्दनीय है।

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥ ५५ ॥

वह स्वामी निन्दनीय है जो अपने बहुत दिनों के सेवक का एक भी अपराध न क्षमाकर सके।

[इति पुरोहित समुद्देशः]

---

१२. सेनापति समुद्देश

सेनापति के गुणों का वर्णन—

अभिजनाचारप्रज्ञानुरागसत्यशौचशौर्यसम्पन्नः, प्रभाववान् बहुबान्धवपरिवारो निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो भर्तुरभ्युदयदेशहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिराजचिह्नैः संभावितः सर्वक्लेशायाससहः स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिरिति सेनापतिगुणाः ॥ १ ॥

सेनापति के निम्नलिखित गुण हैं। कुलीन, सदाचारी, बुद्धिमान्, अनुरागी, सत्यवादी, शुचिता और शूरता से सम्पन्न, प्रभावशाली, बहुत से बन्धु-बान्धवों वाला, समस्त नीतियों और युक्तियों के प्रयोग में निपुण, समस्त प्रकार की सवारी, अस्त्र, युद्ध, लिपि और भाषा का ज्ञानी, आत्मज्ञानी, समस्त प्रजा और सामन्तों को प्रिय लगने वाला, सङ्ग्राम के योग्य और

मनोहर आकृति तथा शरीरवाला, स्वामी के अभ्युदय और देश के कल्याण के विषय में स्थिर बुद्धि रखनेवाला स्वामी के द्वारा आत्मतुल्य समझा जाकर सम्मानित और धन से पुरस्कृत, राजचिह्नों से विभूषित समस्त प्रकार के क्लेश और परिश्रम को सहन करनेवाला और आत्मीयों तथा शत्रुओं से अजेय स्वभाव वाला।

सेनापति के दोष—

स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिता, क्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः, सर्वैः सह वैरविरोधो, परपरिवादः, परुषभाषित्वमनुचितज्ञता संविभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसंभावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षा सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्या लुब्धत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥ २ ॥

स्त्री के वशीभूत होना, उद्दण्डता, द्यूतमद्यपान आदि व्यसनों में लिप्त होना, क्षयरोग, व्ययाधिक्य और चिरप्रवास से आक्रान्त होना, शत्रु के द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों को दूर करने में असमर्थ, सबके साथ लड़ाई झगड़ा, दूसरों की निन्दा करना, कठोर वचन बोलना, अनुचित बातों को ही जानने वाला, रुपया पैसा आदि दूसरों को बिना बांटे भोगने वाला, स्वतन्त्रता और आत्म सम्मान की भावना से आक्रान्त अर्थात् गुरुजन आदि किसी का भी थोड़ा अंकुश न चाहनेवाला और अपने लिये बहुत सम्मान चाहने वाला, स्वामी के कार्य और दुःखों की उपेक्षा करनेवाला, सहकारियों के कार्यों को बिगाड़ने वाला, राजा के हितकारी कार्यों में ईर्ष्यालु होना और लोभ करना, ये सब सेनापति के दोष हैं।

प्रजा का अनुरञ्जन राज्य का मुख्य कर्त्तव्य—

स चिरंजीवी राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः सर्वासु प्रकृतिषु ॥ ३ ॥

नगर भर के लोगों का कार्य करने वाला नाई जिस प्रकार लोकप्रिय होकर सुखी जीवन व्यतीत करता है उसी प्रकार जो राजपुरुष-राजकर्मचारी समस्त प्रजा के अनुरञ्जन में तत्पर रहता है वह चिरकाल तक राजसेवा में रहता हुआ सुख का उपभोग करता है।

[इति सेनापति समुद्देशः]

१३. दूत समुद्देशः

दूत और उसके गुण—

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मन्त्री ।। १ ।।

दूर के कामों के लिये भेजा जाने वाला दूत है और वह मन्त्री के तुल्य है ।

स्वामिभक्तिरव्यसनिता, दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभावत्त्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूत गुणाः ।। २ ।।

स्वामि-भक्ति, जुआ शराब आदि का व्यसन न होना, चातुर्य, पवित्रता, मूर्खता का अभाव, प्रगल्भता, प्रतिभावान् होना, सहिष्णुता, दूसरे के मर्म को जानना, और उत्तम जाति का होना ये दूत के मुख्य गुण हैं ।

स च त्रिविधो निःसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ।। ३ ।।

दूत के भेद—

दूत तीन प्रकार के हैं निःसृष्टार्थ, परिमितार्थ, और शासनहर ।

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निःसृष्टार्थो यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ।। ४ ।।

जिस दूत के किये हुए सन्धि और विग्रह को स्वामी प्रामाणिक स्वीकार कर लेता है वह 'निःसृष्टार्थ' दूत है, जैसे कृष्ण पाण्डवों के निःसृष्टार्थ दूत थे । (जिससे कुछ सीमित कार्य ही कराया जाय वह परिमितार्थ और जो केवल चिट्ठी पत्री आदि ले जाय वह शासनहर है) ।

दूत के कर्तव्य—

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद् वा ।। ५ ।।

दूत शत्रु राजा को अपना परिचय दिये बिना न तो उसके राज्य में प्रविष्ट हो, न वहां से बाहर आवे ।

मत्स्वामिनमतिसंघातुकामः परो मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यविज्ञातोऽपि दूतोऽपसरेद् गूढपुरुषान् वावसर्पयेत् ।। ६ ।।

मेरे स्वामी को धोखे में डाल रखने की इच्छा से शत्रु मुझे अपने यहां रोक रखना चाहता है यह ज्ञात होने पर दूत शत्रु राजा को बिना बताये हुए भी वहां से भाग आवे अथवा गुप्त दूत को वहां से अपने राजा के पास भेजे ।

परेणाशुसंप्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ।। ७ ।।

शत्रु के द्वारा शीघ्र ही वापस कर दिया गया दूत उस शीघ्रता का कारण सोचे ।

कृत्योपग्रहः कृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डल-

प्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानम् अन्तर्भूमिपालाटविकसम्बन्धः कोशदेशतन्त्र-मित्रावबोधः कन्यारत्नवाहनविनिश्रावणं स्वामीष्टपुरुषप्रयोगात् परप्रकृति-क्षोभकरणं च दूतकर्म ॥ ८ ॥

शत्रु द्वारा प्रयुक्त कृत्या की शान्ति करना, शत्रु के लिये कृत्या का उत्थापन करना, कारागार आदि में अवरुद्ध शत्रु के पुत्र और पट्टीदार आदि को फोड़ना, द्रव्यादि देकर अपनी ओर मिलाना—अपनी टोली में प्रविष्ट शत्रु के गुप्त-पुरुष का पता लगाना, अन्तःपुर और अरण्य के रक्षकों से सम्बन्ध स्थापित करना, शत्रु के कोष का, देश की भीतरी बातों का, शासन का और उसके मित्रों का पता लगाना, कन्या, रत्न और वाहन का निकलवा ले जाना, अपने अनुकूल पुरुषों के प्रयोग से शत्रु की प्रजा में क्षोभ उत्पन्न करना ये दूत के काम हैं।

मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिबद्धाप्तजनोपचारविस्रम्भाभ्यां शत्रोरिति कर्त्तव्यतामन्तः सारतां च विन्द्यात् ॥ ९ ॥

शत्रु के मन्त्री पुरोहित सेनापति और दृढ़ विश्वास पात्र व्यक्तियों की सेवा और विश्वास से शत्रु के लक्ष्य और उद्देश्य तथा उसकी भीतरी शक्ति का पता लगावे।

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥ १० ॥

स्वयम् असमर्थ बनकर शत्रु के द्वारा कथित अप्रिय बातों को सहन करे।

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ॥ ११ ॥

गुरु अथवा स्वामी की निन्दा सुनने पर क्षमा भाव से काम न लेकर उसका प्रतिवाद करे।

शत्रु पर आक्रमण करने की नीति—

स्थित्वापि यास्यतोऽवस्थापनं केवलमपक्षयहेतुः ॥ १२ ॥

प्रथम तो बैठा हो पुनः जाने की अर्थात् आक्रमण की इच्छा करे और फिर स्थिर हो जाय तो इससे केवल अपनी ही हानि होती है। शत्रु को यह समझने का अवसर मिलता है कि इसमें शक्ति नहीं है इस लिये रुक गया है।

शत्रु के दूत से मिलने का ढंग—

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत् ॥ १३ ॥

स्वयं वीर पुरुषों से संयुक्त होकर शूर पुरुषों के बीच छिपे हुए शत्रु के दूतों को देखे अर्थात् इनसे भेंटकरे।

दृष्टान्त—

श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति ॥ १४ ॥

इतिहास में प्रसिद्ध है कि चाणक्य ने तीक्ष्ण दूत के प्रयोग से अकेले नन्द को मार डाला था।

शत्रु के द्वारा प्रेषित वस्तु लेने के विषय में विचार—

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥ १५ ॥

शत्रु के द्वारा प्रेषित आज्ञापत्र और भेंट उपहार आदि को बिना अपने वैद्य आदि से परीक्षित कराये हुए ग्रहण न करे।

दृष्टान्त—

श्रूयते हि स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानमाशीविष-विषोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥ १६ ॥

सुना जाता है कि स्पर्श–विष से वासित अद्भुत वस्त्र की भेंट देकर करहाट देश के राजा कैटभ ने वसु नामक राजा को तथा सर्प विष से संयुक्त रत्न की पिटारी का उपहार देकर करवाल नामक राजा ने कराल नामक राजा को मार डाला था।

दूत की अवध्यता—

महत्यपकारेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥ १७ ॥

बहुत बड़ा अपकार करने पर भी दूत का वध न करे।

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः ॥ १८ ॥

शस्त्र उठ जाने पर भी अर्थात् लड़ाई छिड़ जाने पर भी राजाओं की परस्पर वार्ता दूतों के द्वारा ही होती है।

तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणः ॥ १९ ॥

दूत नीच जाति का हो तब भी अवध्य है फिर ब्राह्मण के विषय में तो कहना ही क्या है?

वध्याभावाद् दूताः सर्वं जल्पन्ति ॥ २० ॥

वध्य न होने के कारण दूत कहने न कहने योग्य सभी बातों को कहता है।

कः सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वात्मापकर्षं च मन्येत ॥ २१ ॥

कौन बुद्धिमान् दूत के कहने मात्र से शत्रुकी उत्कृष्टता और अपनी हीनता मानता है?

शत्रु दूत का परीक्षण—

तदाशयरहस्यपरिज्ञानार्थं परदूतः स्त्रीभिरुभयवेतनैः तद्गुणाचार-शीलानुवर्तिभिर्वा प्रणिघातव्यः ॥ २२ ॥

शत्रु के आशय और गुप्त भेदों को जानने के लिये शत्रु के दूत को स्त्रियों

के द्वारा, दोनों ओर से वेतन पाने वाले दूतों के द्वारा अथवा उसके शील और आचार आदि का आचरण करने वालों के द्वारा अपने वश में करे।

शत्रु के लिये पत्र भेजने का प्रकार—

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥ २३ ॥

शत्रु के लिये लेखों-पत्र आदि को चार वेष्टनों में लपेटे और ऊपर से अपने तलवार की मुद्रा लगा दे।

[इति दूत समुद्देशः]

---

१४. चारसमुद्देशः

गुप्तचरों का महत्त्व—

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥ १ ॥

अपने और शत्रु के मण्डल (जिले) का भला और बुरा काम देखने के लिये राजाओं के गुप्तचर ही उनके नेत्र हैं।

गुप्तचर के गुण—

अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः ॥ २ ॥

चाञ्चल्य न होना, आलस्य न होना, झूठ न बोलना और शत्रु के मर्मज्ञान की क्षमता का होना, ये गुप्तचर के गुण हैं।

गुप्तचर सम्बन्धी अन्य विचार—

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ॥ ३ ॥

सन्तुष्टि पर्यन्त पुरस्कार देना ही गुप्तचरों का वेतन है।

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येष्वतीव त्वरन्ते ॥ ४ ॥

पुरस्कार के लोभ से वे स्वामी के कार्य को अधिक शीघ्रता के साथ करते हैं।

सन्दिग्धविषये त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः ॥ ५ ॥

एक गुप्तचर की बातों से जब किसी विषय में सन्देह होता हो तो तीन गुप्तचरों क ऐकमत्य से निश्चय करना चाहिए।

अनवसर्पो हि राजा स्वैः परैश्चातिसंधीयते ॥ ६ ॥

गुप्तचरहीन राजा अपने आदमियों से और शत्रुओं के द्वारा वञ्चित होता है।

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥ ७ ॥

जिसके पास रात को पहरा देने वाला आदमी नहीं है क्या उसकी रात

में कुशल है ? अर्थात् धनी के पास रात का पहरेदार न हो और राजा के पास गुप्तचर न हो तो दोनों की कुशल नहीं है।

गुप्तचरों के भेद और उनके पृथक् पृथक् लक्षण—

कार्पटिकोदास्थितिक गृहपतिक-वैदेहिक-तापस-कितव-किरात-यमपट्टिकाहितुण्डिक-शौण्डिक-शौभिक-पाटच्चर-विट-विदूषक-पीठमर्दक-नट-नर्त्तक-गायक-वादक-वाग्जीवक-गणक-शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सूदारालिक-संवाहिक-तीक्ष्ण-क्रूर-रसद-जड-मूक-बधिरान्धच्छद्मानस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः ॥ ८ ॥

कार्पटिक (छात्रवेष में गुप्तचर) उदास्थित (अध्यापक वेष में गुप्तचर) पटवारी, महाजन, तपस्वी, जुआ खेलने वाला, किरात, घर-घर घूमकर यमलोक यातना आदि के चित्र दिखाने वाला; मदारी, कलवार, बहुरूपिया, चोर अथवा बन्दी का वेष रखनेवाला, व्यसनी पुरुषों का संरक्षक, बाहुक, विदूषक, कामशास्त्री, नट, नर्त्तक, गायक, वादक, कथावाचक, ज्योतिषी, सगुनिया, वैद्य, जादूगर, नैमित्तिक, रसोईदार, विचित्र-विचित्र भोजन बनाने वाला, मालिश करने वाला, तीखे, रूखे, आलसी, जड़, गूंगे, बहिरे अन्धे आदि के कपट वेष में स्थायी और चर भेद से उक्त प्रकार के गुप्तचर होते हैं।

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः कार्पटिकः ॥ ९ ॥

शत्रु के गूढ रहस्य को जाननेवाला धृष्ट छात्र 'कार्पटिक' है।

यं कंचन समयमास्थाय प्रतिपन्नाचार्याभिषेकः प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राजपरिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥ १० ॥

इच्छानुसार किसी भी सम्प्रदाय का आश्रय लेकर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होकर बहुत से शिष्यों को पढ़ाने वाला तथा तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न और राजा के द्वारा निश्चित जीविकावाला व्यक्ति 'उदास्थित' है।

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥ ११ ॥

गांव के मुखिया (पटवारी) और सूद पर रुपया बांटने वाले गांव के महाजन 'गृहपति' और 'वैदेहिक' है।

बाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदंभहेतुस्तापसः ॥ १२ ॥

दिखावटी व्रत और विद्या के नाम पर लोगों को ठगनेवाला 'तापस' संज्ञक गुप्तचर है।

कितवो द्यूतकारः ॥ १३ ॥

जुआ खेलाने वाले का नाम कितव है।

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥ १४ ॥

जिसके समस्त शरीर के अङ्ग छोटे हों वह 'किरात' है।

यमपट्टिको गलत्रोटिकः ॥ १५ ॥

गले में डोरा बांधकर उसमें नरक के दृश्यों का चित्र पट लटकाए हुए घर-घर घूमने वाले का नाम 'यमपट्टिक' है।

आहितुण्डिकः सर्पक्रीडाप्रसरः ॥ १६ ॥

सांप का खेल दिखानेवाला मदारी 'आहितुण्डिक' है।

शौण्डिकः कल्पपालः ॥ १७ ॥

शराब बेचने वाला शौण्डिक है।

शौभिकः क्षपायां काण्डपटावरणेन नानारूपदर्शी ॥ १८ ॥

रात्रि के समय पर्दा डालकर अनेक प्रकार का रूप प्रदर्शित करनेवाला 'शौभिक' (बहुरुपिया) है।

पाटच्चरश्चौरो बन्दीकारो वा ॥ १९ ॥

चोर अथवा बन्दी के वेष में वर्त्तमान गुप्तचर 'पाटच्चर' है।

व्यसनिनां प्रेषणाजीवी विटः ॥ २० ॥

वेश्यादि के व्यसनी पुरुषों को वेश्याओं आदि के यहां पहुँचा कर जीविकोपार्जन करने वाले को 'विट कहते है।

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥ २१ ॥

सबकी हंसी का पात्र 'विदूषक' है।

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दकः ॥ २२ ॥

कामशास्त्र के आचार्य की 'पीठमर्दक' संज्ञा है।

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्त्तको नाटिकाभिनयरङ्ग-नर्तको वा ॥ २३ ॥

सङ्गीत में सहायक वस्त्रों से सुसज्जित होकर नृत्य कला द्वारा अपनी जीविका चलाने वाला अथवा नाटक नाटिका के अभिनय में रङ्गभूमि में नृत्य करने वाला 'नर्त्तक' है।

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥ २४ ॥

वेश्याओं को उनकी जीविका का साधनभूत नृत्यगान का उपदेश देने वाला 'गायक' है।

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥ २५ ॥

गीत की रचना के अनुसार विशेष ताल लय के साथ सितार, मृदङ्ग, बांसुरी, मजीरा आदि चार प्रकार के वाद्य में कुशल व्यक्ति 'वादक' है।

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥ २६ ॥

कविता कथा आदि के द्वारा अपनी वाणी के बल पर जीविकानिर्वाह

करने वाला वैतालिक-चारण भाट, बन्दी आदि और सूत-कथा वाचक ये 'वाग्जीवी' हैं।

गणकः संख्याविद् दैवज्ञो वा ॥ २७ ॥

गणित का पण्डित अथवा ज्योतिषी 'गणक' है।

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥ २८ ॥

तरह-तरह के भले-बुरे सगुन बताने वालों का नाम शाकुनिक है।

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥ २९ ॥

आयुर्वेद जानने वाला वैद्य और शस्त्र कर्म अर्थात् चीड-फाड़ जानने वाला भिषक् है।

ऐन्द्रजालिकस्तन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥ ३० ॥

तन्त्रशास्त्रों की युक्तियों द्वारा मन को चकित कर देने वाला मायावी 'ऐन्द्रजालिक' कहा जाता है।

नैमित्तिको लक्ष्यवेधदैवज्ञो वा ॥ ३१ ॥

लक्ष्यवेध करने वाला अथवा, दैवज्ञ 'नैमित्तिक' है।

महानसिकः सूदः ॥ ३२ ॥

रसोई बनाने वाला 'सूद' है।

विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिकः ॥ ३३ ॥

विभिन्न प्रकार के भोजन बनाने वाले को आरालिक कहते हैं।

अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः ॥ ३४ ॥

अङ्गमर्दन की कला में कुशल अथवा बोझा ढोने वाले कुली की 'संवाहक' संज्ञा है।

द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यः स्वजीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसह्यो वा ॥ ३५ ॥

पैसे के लिये अत्यन्त कठोर कर्म शेर बाघ आदि से लड़ना आदि के द्वारा जो अपने प्राणों तक की बाजी लगा दे उसको 'तीक्ष्ण' अथवा 'असह्य' कहते हैं।

बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराः ॥ ३६ ॥

बन्धु-बान्धवों के प्रति स्नेह रहित व्यक्ति को 'क्रूर' कहते हैं।

अलसाश्च रसदाः ॥ ३७ ॥

आलसी आदमियों की 'रसद' संज्ञा है।

[इति चारसमुद्देशः]

१५. विचारसमुद्देशः

यहां १ से १० सूत्रों तक विचार की महत्ता और उसके स्वरूप का चिंतन किया गया है—

नाविचार्य कार्यं किमपि कुर्यात् ॥ १ ॥

बिना विचार के कोई भी कार्य न करे।

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में निश्चित करने के कारण का नाम विचार है।

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

अपनी आंखों देखा दृश्य प्रत्यक्ष कहा जाता है।

न ज्ञानमात्रात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥ ४ ॥

किसी भी कार्य में विचारकों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति केवल ज्ञान से नहीं होती अर्थात् चिन्तनशील पुरुष किसी काम को तभी छोड़ते हैं या उसमें लगते हैं जब वे उसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि से ठीक समझते हैं।

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति, संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे ॥ ५ ॥

जब कि स्वयं देखे हुए भी पदार्थ में मनुष्य की बुद्धि मोह, संशय और भ्रम में पड़ जाती है तब क्या दूसरों के द्वारा बताई या कही गई वस्तु में उसे मोहादि नहीं होगा ?

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥६॥

विचारक वह है जो प्रत्यक्ष देखी वस्तु का भी सम्यक् परीक्षण करने के अनन्तर कार्य में प्रवृत्त होता है।

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥ ७ ॥

अत्यन्त शीघ्रता से किये गये कार्य कौन सा अनर्थ नहीं उत्पन्न करते ? अर्थात् बिना सोचे समझे किसी कार्य को जल्दबाजी में कर डालने से अनेक कठिनाइयां और उपद्रव सामने आते हैं।

अविचार्याचरिते कर्मणि पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥ ८ ॥

बिना विचारे किये गये काम में आई हुई आपत्तियों का बाद में प्रतीकार करना पानी बह जाने पर बांध बांधने के समान व्यर्थ है।

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥ ६ ॥

किये गये काम से बिना किये हुए काम को बुद्धि से समझ लेना अर्थात्

किसी काम को थोड़ा सा करने के बाद उस पूरे काम की रूपरेखा को बुद्धि-बल से ज्ञान कर लेना निश्चय कर लेना अनुमान है।

संभावितैकदेशो नियुक्तं विद्यात् ॥ १० ॥

किसी कार्य का एक अंश पूरा कर लेने पर पूर्ण कार्य का निश्चय कर ले। अर्थात् किसी व्यक्ति ने यदि किसी काम के प्रारंभिक अंश को सफलता के साथ कर लिया तो समझना चाहिए कि वह पूरा काम सफलता के साथ कर लेगा।

होनहार राजकुमार के लक्षण—

आकारः शौर्यं प्रज्ञा-सम्पत्तिरायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ॥ ११ ॥

शारीरिक सुन्दर आकार, शूरता, बुद्धिबल, प्रभाव, और विनय ये सब गुण राजकुमारों के भावी राज्य-शासन के चिह्न हैं। अर्थात् उक्त गुणों को देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है या किया जा सकता है।

प्राणियों के भविष्य की पहिचान—

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतोः शुभाशुभयोर्लिङ्गम् ॥१२॥

स्वभाव की विकृति ही प्राणियों के भावी शुभाशुभ का चिह्न हैं। अर्थात् किसी व्यक्ति के स्वभाव में जैसा कुछ भला-बुरा परिवर्तन समय-समय पर दिखाई पड़े वैसा ही उसका भविष्य जीवन समझे।

एक कार्य में सफल व्यक्ति की अन्य कार्य में सफलता की संभावना—

एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिपुरुषकारः कथं नाम न कर्मान्तरे समर्थः ॥१३॥

किसी एक काम में जो अपना बुद्धि और पौरुष प्रदर्शित कर चुका है वह दूसरे काम में क्यों नहीं समर्थ होगा ?

आगम का लक्षण—

आप्तपुरुषोपदेश आगमः ॥ १४ ॥

आप्त पुरुषों के उपदेश को आगम कहते हैं।

आप्त का लक्षण—

यथानुभूतामितश्रुतार्थोऽविसंवादिवचनः पुमानाप्तः ॥ १५ ॥

अनुभव, अनुमान और शास्त्रश्रुत अर्थ के अनुसार वचन बोलने वाला पुरुष आप्त है।

युक्तिहीन वाक्य की व्यर्थता—

सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥ १६ ॥

जिसमें कोई अच्छी युक्ति न दी गई हो ऐसी बात कही हुई भी न कही जाने के समान है।

व्यक्तित्व और वाणी का सम्बन्ध—

वक्तुर्गुणगौरवाद् वचनगौरवम् ॥ १७ ॥

बोलनेवाले के गुणों की गुरुता के कारण उसकी वाणी का गौरव होता है।

धन के उपयोग के विषय में—

किं मितम्पचेषु धनेन चण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतां नोपभोगः ॥ १८ ॥

अपने ही भोजन भर को थोड़ा सा पकाने वाले अर्थात् कृपण पुरुष को धन होने से और चण्डाल के तालाब में जल होने से क्या लाभ है जब कि सामान्यरूप से सत् पुरुष उसका उपभोग नहीं कर सकते।

जनता की गतानुगति—

लोकस्तु गतानुगतिको यतोऽसौ सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनीं धर्मेषु न तथा प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥

संसार गतानुगतिक अर्थात् 'देखा-देखी' काम करने वाला है, जैसा एक करता है वैसा ही दूसरे भी करने लगते हैं। क्योंकि कुट्टिनी-वेश्या धर्म के सम्बन्ध में कैसा भी सदुपदेश क्यों न दे लोग उसे वैसा न मानेगें जैसा गौ के भी हत्यारे ब्राह्मण के उपदेश को।

[इति विचारसमुद्देशः]

---

१६. व्यसन समुद्देश

व्यसन और उसका भेद—

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः-इति व्यसनम् ॥ १ ॥

व्यक्ति को कल्याण मार्ग से विचलित अथवा भ्रष्ट करनेवाले कार्यों का नाम व्यसन है।

व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥ २ ॥

व्यसन दो प्रकार के हैं : १. सहज २. आहार्य अर्थात् एक स्वाभाविक, दूसरा दूसरों को द्यूत, मद्यपान आदि में प्रवृत्त देखकर स्वयं भी उसमें पड़ना।

सहज व्यसन को दूर करने के उपाय—

सहजं व्यसनं धर्मसंभूताभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशमं नयेत् ॥ ३ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने सहज व्यसनों को धर्ममूलक कल्याणकारी साधनों और उपायों से और अधर्म से होने वाले महान् सङ्कटों को

सूचित करने वाले ग्रन्थों में वर्णित उपाख्यानों के सुनने से, तथा योगी एवं साधु पुरुषों के सत्संग से दूर करे।

योगपुरुष का लक्षण—

परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषु उपायेन विरक्तिहेतवो योगपुरुषाः ॥ ४ ॥

दूसरे की चित्तवृत्ति को अपने अनुकूल बनाते हुए युक्ति के साथ जो दूसरे के अत्यन्त अभीष्ट वस्तुओं के प्रति उसका विराग उत्पन्न कर सकें उन-उन व्यसनों से उसका मोह दूर कर सकें वे योग पुरुष हैं।

आहार्य व्यसन को दूर करने के उपाय—

शिष्ट-संसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥ ५ ॥

पुरुष अपने आहार्य व्यसनों को सत्पुरुषों की संगति करके और दुष्ट पुरुषों का संसर्ग त्यागकर तथा प्राचीन महापुरुषों के चरित्र से सम्बद्ध कथाओं से दूर करे।

अठारह प्रकार के दुर्व्यसनों का क्रमशः उल्लेख और उनके दोष आदि का चर्चा—

स्त्रियमतिभजमाने भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥ ६ ॥

स्त्री का अत्यधिक सेवन करने से मनुष्य अवश्य ही नपुंसक हो जाता है।

सौम्यधातुक्षयः सर्वधातुक्षयं करोति ॥ ७ ॥

सौम्य धातु अर्थात् शुक्र (वीर्य) नाश से शरीर की अन्य समस्त धातुओं का नाश हो जाता है।

पानशौण्डश्चित्तभ्रमान्मातरमप्यभिगच्छति ॥ ८ ॥

मद्यपान करनेवाला व्यक्ति चित्त भ्रम के कारण अपनी माता से भी समागम कर बैठता है।

मृगयासक्तिः स्तेन-व्याल-द्विषद्-दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥९॥

शिकार खेलने में अत्यधिक आसक्त होने से शिकार खेलने वाला व्यक्ति किसी न किसी दिन चोर सर्प और विद्वेषी दायादों (पट्टीदार बन्धु बान्धव) का शिकार बन जाता है।

नास्त्यकृत्यं द्यूतासक्तस्य, मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव कितवः ॥ ११ ॥

जुए में आसक्त व्यक्ति के लिये कोई भी कार्य अकार्य नहीं है। घर में मां भी मरी पड़ी हो तो जुआरी जुआ खेलता ही है।

पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥ १२ ॥

चुगलखोर मनुष्य सबका अविश्वास पात्र बन जाता है।

दिवास्वापः सुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदण्डः सकलकार्यान्तरायश्च ॥ १३ ॥

दिन में सोना शरीर के भीतर सुप्त अर्थात् छिपे हुए व्याधिरूप सर्पों को उठा देने के लिये दण्ड के समान है और समस्त कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला है। आशय यह है कि दिन में सोने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और बहुत से काम नहीं हो पाते, छूट जाते हैं।

न परपरिवादात्परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥ १३ ॥

मनुष्य को सबका द्वेषपात्र बना देने के लिए परनिन्दा से बढ़ कर दूसरी औषध नहीं है। अर्थात् परनिन्दा में रत पुरुष सब लोगों से घृणा-पूर्वक देखा जाता है।

तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम प्राणार्थमानैर्न वियोजयति ॥ १३ ॥

नृत्य, गीत आदि में अत्यन्त आसक्ति प्राण, धन और सम्मान से किसे नहीं वियुक्त कर देती ? नाचने-गाने में ही लगा रहनेवाला अर्थात् अत्यन्त भोगविलास में पड़ा हुआ आदमी अपनी जान से हाथ धो बैठता है, उसका धन नष्ट हो जाता है, और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है।

वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ॥ १४ ॥

व्यर्थ-बिना उद्देश्य के इधर-उधर घूमते रहने से कोई न कोई उपद्रव खड़ा ही हो जाता है।

अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियस्त्यजन्ति निघ्नन्ति वा पुरुषम् ॥ १५ ॥

अत्यन्त ईर्ष्यालु पुरुष को स्त्रियाँ या तो त्याग देती हैं अथवा मार डालती हैं।

परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसं दशमुखदाण्डिक्यविनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥ १६ ॥

पराई स्त्री से समागम अथवा किसी कन्या का शीलभंग रूपी साहस कर्म रावणादि दण्डधारियों के विनाश का कारण हुआ यह सुप्रसिद्ध ही है।

यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥ १७ ॥

जिस काम में मनुष्य 'मैं जीवित रहूं या न रहूँ' इस तरह विचार कर प्राणों की बाजी लगा दे और उस काम को करे तो वह उसका साहस अर्थात् साहस का काम है।

अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥ १८ ॥

अर्थ दोषी अर्थात् अधिक व्यय करने वाला कुबेर भी भीख मांगता है।

अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥ १९ ॥

अत्यन्त व्यय करना और अपात्र में बुरे कामों आदि में व्यय करना अर्थ दोष है।

हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणांकुरमपि नोपहन्यात् किं पुनर्मनुष्यम् ॥ २० ॥

हर्ष और अमर्ष अर्थात् प्रसन्नता और क्रोध के भावावेश में आकर घास के अंकुर को भी न नष्ट करे फिर मनुष्य को नष्ट करने की तो बात ही क्या है ?

श्रूयते हि निष्कारणं भूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्चासुरावगस्त्याशनाद् विनेशतुरिति ॥ २१ ॥

यह सुना जाता है कि जीवों से अकारण द्वेष करने वाले वातापि और इल्वल नाम के दानव अगस्त्य ऋषि के द्वारा भक्षित होकर विनष्ट हो गये।

यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते ॥ २२ ॥

दोष और अपराध के अनुसार करोड़ रुपया भी छीन लिया जाय तो दुःखदायक नहीं होता।

अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति ॥ २३ ॥

अन्यायपूर्वक यदि तिनका भी छीन लिया जाय तो उससे प्रजा दुःखी होती है।

तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥ २४ ॥

पेड़ काट कर फलों का उपभोग एक ही बार तो किया जा सकता है।

प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयं भाण्डागारमतो युक्तितस्तमुपयुञ्जीत ॥ २५ ॥

राजा के लिये प्रजा का धन-धान्य से सम्पन्न होना अनुपम और अक्षय भण्डार के समान है अतः उसका उपयोग उसे युक्तिपूर्वक करना चाहिए।

राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति जायते च पूर्वसञ्चितस्याप्यर्थस्यापायः ॥ २६ ॥

तिनके के बराबर तुच्छ भी राजकीय वस्तु का ग्रहण चोरी आदि सोने के समान हो जाती है अर्थात् उसका बहुत बड़ा दण्ड चुकाना पड़ता है जिससे पूर्व सञ्चित भी धन नष्ट हो जाता है।

वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥ २७ ॥

वाणी की कठोरता शस्त्र पात से भी अधिक कठोर होती है।

ज्ञातिवयोवृत्तविद्याविभवानुचितं हि वचनं वाक्पारुष्यम् ॥ २८ ॥

किसी की जाति, अवस्था, सदाचार, और विद्या तथा ऐश्वर्य के अनुकूल वचन का प्रयोग न करना ही वाक् पारुष्य अर्थात् वाणी की कठोरता है।

स्त्रियम्, अपत्यं, भृत्यं वा तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद् यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव वचनतो न ते दुर्मनायन्ते ॥ २९ ॥

अपनी स्त्री, सन्तान और सेवक को ऐसे वचनों से विनयी बनावे जिससे वे हृदय में प्रविष्ट तीरके समान दुःखद दुर्वचनों से दुःखी न हों।

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं वा क्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥ ३० ॥

किसी का वधकर देना, जेल आदि में रख कर यन्त्रणा देना और धन छीन लेना ये क्रमशः दण्ड पारुष्य हैं।

एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गवानपि राजा विनश्यति किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥ ३१ ॥

एक भी व्यसन में लिप्त राजा सेना, हाथी, घोड़ा और पैदल इन चतुरङ्गों से युक्त होने पर भी विनष्ट हो जाता है फिर अठारह दोषों से युक्त के विषय में तो कहना ही क्या है ?

[इति व्यसन समुद्देशः]

१७. स्वामि समुद्देशः

दो सूत्रों द्वारा 'स्वामी' के आवश्यक गुणों का वर्णन—

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान् नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥ १ ॥

धार्मिक, विशुद्ध वंश, आचार और परिवार वाला, प्रतापशाली तथा नीति के अनुसार आचरण करने वाला जो हो वह स्वामी है।

कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रता आत्मातिशयवर्धनं वा यस्यास्ति स स्वामी ॥ २ ॥

क्रोध और प्रसाद में जो स्वतन्त्र हो अर्थात् क्रोध करे तो कुछ बिगाड़ सके और प्रसन्न हो तो कुछ दे सके तथा अपना उत्कर्ष करने में जो साधन सम्पन्न हो वह स्वामी है।

स्वामी की आवश्यकता—

स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयो भवन्त्यभिप्रेतप्रयोजना नास्वामिकाः ॥३॥

समस्त प्रजा स्वामी के ही आधार से अपना अभीष्ट सिद्ध करने में समर्थ होती है बिना स्वामी के नहीं।

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥ ४ ॥

बिना स्वामी की प्रजा समृद्ध होने पर भी अपना उद्धार नहीं कर सकती।

दृष्टान्त—

अमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः ॥ ५ ॥

बिना जड़ के वृक्षों में पुरुष प्रयत्न करके भी क्या कर सकता है।

असत्यवादिता के दोष—

असत्यवादिनो विनश्यन्ति सर्वे गुणाः ॥ ६ ॥

असत्यवादी के सब गुण नष्ट हो जाते हैं।

वञ्चक के दोष—

वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरमायुः ॥ ७ ॥

दूसरों को ठगने और धोखा देने वालों के समीप न तो सेवक होते हैं न वे दीर्घायु होते हैं।

धनदाता की लोकप्रियता—

स प्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम् ॥ ८ ॥

जो धन देता है वह लोकप्रिय होता है। अर्थात् दानी पुरुष शीघ्र ही सबका प्यारा बन जाता है।

महान् दाता का स्वरूप—

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः ॥ ९ ॥

महान् दाता वह है जिनके चित्त में दान के अनन्तर किसी प्रत्युपकार की आशा नहीं होती।

प्रत्युपकर्त्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव ॥ १० ॥

प्रत्युपकार करनेवाले के प्रति उपकार करना बढ़ने वाली धरोहर के समान है।

उपकार प्रत्युपकार की परम्परा की आवश्यकता—

तज्जन्मान्तरेषु न केषामृणं येषामप्रत्युपकारं परार्थानुभवनम् ॥ ११ ॥

जो बिना प्रत्युपकार के परोपकार करते हैं उनका वह परोपकार जन्मान्तर में ऋण तुल्य होता है। अर्थात् उपकार के बदले उपकार की भावना रखनी चाहिए और उपकार के बदले उपकार करते रहना चाहिए अन्यथा वह दूसरे का उपकार अपने ऊपर जन्मान्तर तक ऋण सा लदा रहता है।

दृष्टान्त—

किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ॥ १२ ॥

उस गाय से क्या लाभ जो न दूध देती है न गर्भिणी होती है?

स्वामी की कृपा का स्वरूप—

किं तेन स्वामिप्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥ १३ ॥

स्वामी की उस प्रसन्नता से क्या लाभ जिससे आशा न पूर्ण हो।

क्षुद्रमण्डल के दोष—

क्षुद्रपरिषत्कः सर्पवानाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥ १३ ॥

जिसकी सभा में क्षुद्र पुरुष हों अर्थात् जिसके परामर्श दाताओं के मण्डल में क्षुद्र विचार के लोग होते हैं उसका उस स्वामी का आश्रय कोई भी उसी प्रकार नहीं ग्रहण करता जिस प्रकार सर्प से बसे हुए घर में कोई नहीं रहता।

कृतघ्नता का दोष—

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सन्ति सहायाः ॥ १५ ॥

कृतघ्न पुरुष को दुःख पड़ने पर कोई सहायक नहीं होता।

प्रत्येक व्यक्ति में विशेष गुण की आवश्यकता—

अविशेषज्ञः शिष्टैर्नाश्रीयते ॥ १६ ॥

जिसमें कोई विशेष गुण नहीं होता शिष्ट पुरुष उसका आश्रय नहीं लेते।

अतिस्वार्थ का दोष—

आत्मम्भरिः कलत्रेणापि त्यज्यते ॥ १७ ॥

केवल अपना पेट भरना जाननेवाले को अर्थात् अत्यन्त स्वार्थी को उसकी स्त्री भी छोड़ देती है।

उत्साह की महिमा—

अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमद्वारम् ॥ १८ ॥

अनुत्साह सब प्रकार के दुःखों के आने का द्वार है। अर्थात् जहाँ उत्साह नहीं वहाँ अनेक आपत्तियाँ आती रहती हैं।

उत्साह के गुण—

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमित्युत्साहगुणाः ॥ १६ ॥

पराक्रम, अन्यायी पर क्रोध और कार्यों को शीघ्र करना तथा सत्कर्म में कुशल होना ये उत्साह के गुण हैं।

अन्यायाचरण का दोष—

अन्यायप्रवृत्तेर्न चिरं सम्पदो भवन्ति ॥ २० ॥

अन्यायाचरण करनेवाली की सम्पत्ति चिरस्थायी नहीं होती।

स्वेच्छाचार का दोष—

यत्किंचनकारी स्वैः परैर्वा हन्यते ॥ २१ ॥

जो चाहे सो करने वाला अर्थात् अत्यन्त स्वेच्छाचारी पुरुष कभी न कभी आत्मीय अथवा पराए लोगों के द्वारा मार डाला जाता है।

ऐश्वर्य का फल—

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २२ ॥

आज्ञा प्रदान करना और उसका पूर्ण होना ऐश्वर्य का फल है। अर्थात् ऐश्वर्य और अधिकार तभी सफल है जब आज्ञा देने का सामर्थ्य हो और लोग उसका पालन करें।

धन का फल—

दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २३ ॥

दान देना और उसका उपभोग करना धन का फल है। अर्थात् धन तभी सफल है जब दान दिया जाय और तदनुकूल सुख भोगा जाय।

'स्त्री' की उपयोगिता—

रतिपुत्रफला दाराः ॥ २४ ॥

सम्भोग और सन्तान की प्राप्ति स्त्री होने का फल है। अर्थात् सुखप्राप्ति और सन्ततिलाभ न हुआ तो स्त्री का होना व्यर्थ है।

राजाज्ञा की उत्कृष्टता—

राजाज्ञा हि सर्वेषामलङ्घ्यः प्राकारः ॥ २५ ॥

राजाज्ञा सब के लिये अलङ्घ्य प्राकार—चहारदीवारी या खाई के समान है। जिस प्रकार किले की रक्षा के लिये बनाया गया प्राकार दुर्लङ्घ्य होता है उसी प्रकार राजाज्ञा का भी उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता।

अपनी आज्ञा के विषय में राजा का कर्त्तव्य—

आज्ञाभङ्गकारिणं सुतमपि न सहेत ॥ २६ ॥

राजा को चाहिए कि यदि उसका पुत्र भी उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करे तो उसको सहन नहीं करना चाहिए।

कस्तस्य चित्रगतस्य च राज्ञो विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥ २७ ॥

जिसकी आज्ञा का पालन नहीं होता उस राजा में और चित्र में बने हुए राजा में क्या विशेषता है?

उल्लङ्घन का दण्ड—

राजाज्ञावरुद्धस्य पुनस्तदाज्ञाऽप्रतिपादनेन उत्तमःसाहसोदण्डः ॥ २८ ॥

जो राजा की आज्ञा से अवरुद्ध हुआ हो अर्थात् जेल आदि में बन्दी हो और पुनः आज्ञा का उल्लङ्घन करे तो उसे १००० पण का 'उत्तम साहस' दण्ड देना चाहिए।

सम्बन्धाभावे तद्दातुश्च ॥ २९ ॥

अपराध से अपराधी का सम्बन्ध न सिद्ध हो तो जिस न्यायकर्त्ता ने दण्ड दिया हो उसे उत्तम साहस दण्ड दे।

बोलने का नियम—

परमर्मस्पर्शकरम्, अश्रद्धेयम्, असत्यम्, अतिमात्रं च न भाषेत ॥ ३० ॥

दूसरे को मर्मान्तिक पीड़ाकारी, अविश्वास योग्य, असत्य और बहुत ज्यादा न बोले।

वेष का नियम—

वेषमाचारं वाऽनभिजातं न भजेत् ॥ ३१ ॥

ऐसा वेष और व्यवहार न करे जो अभिजात न हो। अभिजात का अर्थ होता है कुलीन, सद्वंश में उत्पन्न और शिष्ट, अतः अनभिजात इससे प्रतिकूल अर्थ का वाची हुआ। इस प्रकार इस सूत्र का स्पष्टार्थ होगा कि मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी वेष भूषा न धारण करे जो शिष्ट समाज में न व्यवहृत होती हो तथा ऐसा व्यवहार भी किसी से न करे जो शिष्ट परम्परा के अनुकूल न हो।

राजा के अनुसार प्रजा का आचार-व्यवहार—

प्रभौ विकारिणि को नाम न विकुरुते ॥ ३२ ॥

राजा के विकृत होने पर कौन नहीं विकृत होता?

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥ ३३ ॥

राजा के अधार्मिक होने पर कौन नहीं अधार्मिक होता?

राजा के द्वारा मानापमान का महत्त्व—

राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥ ३४ ॥

जो राजा से तिरस्कृत होता है वह सब के द्वारा तिरस्कृत होता है।

पूजितं हि पूजयन्ति लोकाः ॥ ३५ ॥

राजा से पूजित और सम्मानित को सब लोग पूजते हैं अर्थात् सम्मान करते हैं।

प्रजा की देखभाल के विषय में राजा का कर्त्तव्य—

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥ ३६ ॥

राजा को चाहिए कि वह प्रजा के कामों को स्वयं देखे।

यथावसरमप्रतीहारसंगं द्वारं कारयेत् ॥ ३७ ॥

अवसर के अनुकूल राजा अपने द्वार परसे द्वारपाल को भी हटा दे जिससे लोग सरलता से राजा से मिल सकें।

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यतेऽतिसंधीयते च द्विषद्भिः ॥ २८ ॥

जो राजा प्रजा के कार्यों को स्वयम् नहीं देखता उस दुर्दर्श, राजा के भले और बुरे कामों को उसके आसन्न वर्ती अर्थात् पास रहने वाले लोग उलट-पुलट देते हैं और शत्रु भी ऐसे राजा को धोखा देते और ठगते हैं।

राजा के सङ्कट से सेवकों की लाभ की प्रवृत्ति—

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तुर्व्यसनवर्धनादपरो नास्ति जीवनोपायः ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार धनी पुरुषों की व्याधियों के बढ़ने के अतिरिक्त दूसरा उपाय वैद्य की आजीविका का नहीं है उसी प्रकार सेवकों के लिये स्वामी के संकट में पड़ने के अतिरिक्त दूसरा जीविका का उपाय नहीं है अथवा स्वामी के द्यूत मद्यपान आदि के दुर्व्यसनी होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। राजा यदि दुर्व्यसनों में लिप्त हो जाता है तो नौकर चाकर उसी छल से राजा के धन का अपहरण करते रहते हैं।

घूसखोरी के विषय में निर्देश और उपदेश—

कार्यार्थिनो, लंचो लुञ्चति ॥ ४० ॥

कार्यार्थी पुरुष को घूस-भेंट आदि लेने वाला अधिकारी लूटता है।

निशाचराणां भूतबलिं न कुर्यात् ॥ ४१ ॥

राजा को चाहिए कि घूस-रिश्वत लेने वाले निशाचरों के लिये अपने भूत अर्थात् प्रजावर्ग को बलि न बनावे। अर्थात् राजा प्रजा को घूस-खोरों से बचावे।

लंचो हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥ ४२ ॥

घूस सब पापों के आने का द्वार रूप है।

मातुः स्तनमपि लुनंति लंचोपजीविनः ॥ ४३ ॥

घूस रिश्वत से जीविकार्जन करनेवाले व्यक्ति अपनी माता का भी स्तन काट लेते हैं।

लंचेन कार्याभिरुद्धः स्वामी विक्रीयते ॥ ४४ ॥

जिस स्वामी के यहाँ लंच अर्थात् घुस के कारण काम रुकता हो वह स्वामी घूसखोरों के हाथ बिक सा जाता है। घूस देने वाला उसके यहां न्याय-अन्याय सभी प्रकार के कार्य कराता है।

प्रासादविध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लंचेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४५॥

घूस रिश्वत के द्वारा धन का लाभ राजा के लिये वैसा ही है जैसे महल

गिराकर लोहे की कील प्राप्त करने में हैं। अर्थात् घूसखोर राजा का राज्य ही नष्ट हो जाता है।

राज्ञो लंचेन कार्यकरणं कस्य नाम कल्याणम् ॥ ४६ ॥

राजा का घूस लेकर काम करना किसी के लिये भी कल्याणकारक नहीं है।

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥ ४७ ॥

देवतारूप राजा भी यदि चोरों में मिल जाय तो प्रजा का कुशल-मङ्गल कहां से होगा ? अर्थात् रक्षक ही यदि भक्षक बन गया तो फिर कल्याण कहाँ ?

लंचेनार्थोपायं दर्शयन् देशं कोशं भिन्नं तन्त्रं च भक्षयति ॥ ४८ ॥

राजा को घूस से अर्थलाभ प्रदर्शित करनेवाला अमात्य राजा के देश, कोश, मित्र और सैन्य वर्ग को खा जाता है अर्थात् विनष्ट कर देता है।

राजा के द्वारा अन्याय और न्यायाचार—

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनम्, आदित्यस्य तमः पोषणम्, मातुः स्वापत्यभक्षणमिति कलिकालविजृम्भितानि ॥ ४९ ॥

राजा का अन्याय करना समुद्र के मर्यादा लंघन के समान, सूर्य के द्वारा अन्धकार का पोषण होने के समान और माता का अपनी सन्तान के भक्षण के समान है और यह सब कलियुग का विलास है।

राजा कालस्य कारणम् ॥ ५० ॥

प्रजा के दुःखमय अथवा सुखमय समय व्यतीत करने का कारण राजा होता है।

न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुधा भवन्ति सर्वा दिशः, काले च वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति ॥ ५१ ॥

जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है तब प्रजा के लिये समस्त दिशाएँ कामधेनु के समान हो जाती हैं—प्रजा की समस्त अभिलाषाएं पूर्ण होती हैं इन्द्र समय से वर्षा करता है और राज्य की समस्त 'ईतियाँ' शान्त रहती हैं।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी दल आदि का आना, मूषकों का और चिड़ियों का उपद्रव, और राजाओं का चढ़ाई कर देना यह छह ईतियां है।

राजपद की महत्ता—

राजानमनुवर्त्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालास्तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपाल राजानमाहुः ॥ ५२ ॥

समस्त लोकपाल राजा का अनुसरण करते हैं। अतः मध्यम श्रेणी का भी राजा उत्तम लोकपाल कहा जाता है।

राजसहायता के अधिकारी—

(अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुम्बिनः प्रतिसंभावयेत ॥ ५३ ॥)

द्यूत, मद्यपान आदि किसी व्यसन के कारण नहीं, किन्तु अन्य किसी कारण से अर्थात् चोरी, व्यापारिक घाटा आदि से जिनका धन नष्ट हो गया हो ऐसे कुटुम्बियों को राजा मूलधन-पूंजी के निमित्त धन प्रदान कर समादृत करे।

राजा का कुटुम्ब और कलत्र—

(राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही स्वकुटुम्बम्, कलत्राणि तु वंशवर्धनक्षेत्राणि ॥ ५४ ॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वी राजा का अपना कुटुम्ब है और उसके उर्वर खेत उसका वंशवर्धन करनेवाले कलत्र हैं।)

भेंट और उपहार के विषय में राजा का कर्त्तव्य—

(अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न कुर्यात् ॥ ५५ ॥

उपकार न कर सके तो राजा कार्यार्थियों की भेंट न स्वीकार करे।

हास-उपहास के नियम—

आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥ ५६ ॥)

अपरिचित और असहिष्णु व्यक्तियों के साथ परिहास-हंसी मजाक न करे।

बड़ों से संभाषण का नियम—

(पूज्यैः सह नाधिरुह्य वदेत् ॥ ५७ ॥)

आदरणीय व्यक्तियों के साथ कुर्सी पलंग आदि किसी आसन पर चढ़कर बातें न करें।

झूठी आशा देना अनुचित—

(भृत्यमशक्यमप्रयोजनं च जनं नाशया क्लेशयेत् ॥ ५८ ॥)

असमर्थ, सेवक और निःस्वार्थ व्यक्ति को झूठी आशा देकर पीड़ित न करे।

दासता और धन—

(पुरुषो हि न पुरुषस्य दासः किन्तु धनस्य ॥ ५९ ॥)

पुरुष पुरुष का दास नहीं होता किन्तु धन का दास होता है।

यही बात महाभारत के भीष्मपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर से कही है।

"अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।।"

को नाम धनहीनो न भवति लघुः ।। ६० ।।

कौन धनहीन पुरुष छोटा नहीं हो जाता ?

पराधीनेषु नास्ति शर्मसम्पत्तिः ।। ६१ ।।

पराधीन व्यक्ति के पास सुखरूप सम्पत्ति नहीं होती । अर्थात् पराधीनता में सुख कहाँ ?

विद्या की प्रशंसा—

सर्वधनेषु विद्यैव प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ।। ६२ ।।

सब प्रकार के धनों में विद्या ही प्रधान है क्योंकि उसका कोई अपहरण नहीं कर सकता और मनुष्य जहाँ भी जाता है वह उसके संग लगी रहती है ।

सरित् समुद्रमिव नीचमुपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति परन्तु भाग्यानां भवति व्यापारः ।। ६३ ।।

निम्न मार्ग से बहने वाली भी नदी जिस प्रकार अपने साथ बहने वाले छोटे से छोटे और हलके से हलके घास-फूस को भी समुद्र से मिला देती हैं उसी प्रकार नीच और क्षुद्र पुरुष के भी पास की विद्या उसे दुर्लभ दर्शन वाले राजा से मिला देती है, किन्तु वहाँ पहुँच जाने पर अल्प या अधिक अर्थलाभ भाग्य के ऊपर निर्भर होता है ।

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ।।

सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्तजगतः स्थितिज्ञानम् ।। ६४ ।।

विद्वानों के लिये वह विद्या कामधेनु के समान है जिससे समस्त जगत् की स्थिति का ज्ञान होता है । (संभवतः यहाँ ज्योतिष विद्या की प्रशंसा की गई है)

लोक व्यवहार जानने का महत्व—

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायत एव ।। ६५ ।।

लोक व्यवहार को जाननेवाला ही सर्वज्ञ है दूसरा तो विद्वान् होने पर भी अनादृत होता है ।

प्रज्ञापारमित का लक्षण—

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषाः ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ।।६६।।

उन पुरुषों को "प्रज्ञापारमित" कहते हैं जो दूसरों को उनके कर्त्तव्य का बोध कराने में समर्थ होते हैं ।

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ॥ ६७ ॥

समुद्र की उस विशाल जलराशि से क्या लाभ है जो खारी होने के कारण उपयोग में नहीं आ सकती ।

[इति स्वामिसमुद्देशः]

१८. अमात्यसमुद्देशः

अमात्य पद की महत्ता—

चतुरङ्गयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति किं पुनरन्यः ॥ १ ॥

हाथी, घोड़े, रथ और पैदल की चतुरङ्गिणी सेना से युक्त भी राजा बिना अमात्य के अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकता फिर अन्य के विषय में क्या कहा जाय ?

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥ २ ॥

अकेले राजा को कार्यसिद्धि नहीं हो सकती ।

नह्येकचक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥

रथ का अकेला पहिया नहीं घूमता ।

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥ ४ ॥

क्या बिना वायु के लकड़ी से युक्त भी आग कहीं जलती है ?

अमात्य का स्वरूप—

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सम्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः ॥ ५ ॥

अपने कर्म के अनुसार उन्नति और अवनति के अवसर पर राजा के द्वारा प्रदत्त दान-मानादि से जिनको हर्ष और विषाद हो वे अमात्य हैं ।

अमात्य के मुख्य कर्त्तव्य—

आयो व्ययः स्वामिरक्षा-तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥ ६ ॥

आय और व्यय की देखभाल, राजा की सुरक्षा तथा सैन्य शक्ति का संरक्षण और पोषण ये चार अमात्य के मुख्य कर्त्तव्य हैं ।

आय–व्यय विषय का विचार—

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुनिदर्शनमेव ॥ ७ ॥

आय और व्यय के विषय में मुनि का कमण्डलु दृष्टान्त रूप है । कमण्डलु में ऊपरी मुख चौड़ा और बड़ा होता है जिससे जल जल्दी भर जाता है और जल गिराने की टोंटी का मुख छोटा होता है जिससे गिराने में जल धीरे-धीरे

करके ढेर में गिरता है। इसी प्रकार राज्य में आय का मुख अर्थात् साधन विशाल-अनेक होना चाहिए किन्तु व्यय नियमित और कम होना चाहिए।

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥ ८ ॥

आय द्रव्य की उत्पत्ति का द्वार है।

यथा स्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥ ९ ॥

स्वामी की आज्ञा के अनुकूल अर्थ का निकास व्यय है।

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं श्रमणायतएव ॥ १० ॥

आय का ध्यान न रखकर व्यय करने वाला कुबेर भी श्रमण अर्थात् भिक्षु बन जाता है।

स्वामी शब्द का अभिप्राय—

राज्ञः शरीरं, धर्मः कलत्रमपत्यानि च स्वामिशब्दार्थाः ॥ ११ ॥

राजा का शरीर, उसके कर्त्तव्य और धर्म, पत्नियां और पुत्र-पुत्री स्वामि शब्द का आशय है।

तन्त्र का स्वरूप—

तन्त्रं चतुरङ्गबलम् ॥ १२ ॥

हाथी, घोड़े, रथ अथवा अश्वारोही और पैदल इन चार प्रकार की सैन्य शक्ति का नाम तन्त्र है।

अमात्य पद के अयोग्य व्यक्तियों का क्रमशः निरूपण—

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचिं व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्तनमतिव्ययशीलमन्यदेशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ॥ १३ ॥

जो बहुत उग्रस्वभाव वाला हो, जिसके दल या पार्टी में बहुत लोग हों, जो पवित्र और स्वच्छ ढंग से न रहता हो, जिसको द्यूत मद्यपान आदि का कोई व्यसन हो, जिसका कुल शुद्ध न हो, अशक्य प्रत्यावर्तन अर्थात् हठी ऐसा कि किसी काम में लगा दिया और फिर उसे रोकना चाहें तो रुके नहीं, और जो अत्यन्त व्यय करने वाला हो, दूसरे देश से आया हो, और अत्यन्त चिक्कण अर्थात् बहुत ही मृदु हो ऐसे आदमियों को राजा अमात्य न बनावे।

तीक्ष्णोऽभियुक्तः स्वयं म्रियते मारयति वा स्वामिनम् ॥ १४ ॥

अत्यन्त उग्रस्वभाववाला व्यक्ति यदि मन्त्रिपद पर नियुक्त होता है तो या तो वह स्वयं कभी क्रोधवश आत्महत्या आदि कर लेता है अथवा स्वामी को ही क्रोधवश मार डालता है।

बलवत्पक्षो नियोग्यभियुक्तो व्यालगज इव समूलं नृपाङ्घ्रिपमुन्मूलयति ॥ १५ ॥

(प्रबल दल वाला व्यक्ति यदि अमात्यरूप अधिकारी के पद पर नियुक्त किया जाता है तो वह मतवाले पागल हाथी की भांति जड़सहित राजारूपी वृक्ष को उखाड़ डालता है।)

अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥ १६ ॥

थोड़ी आय करके बहुत व्यय करने वाला अमात्य राजा के अर्थ कोष का नाश कर देता है।

अल्पायमुखो महाजनं परिग्रहं च पीडयति ॥ १७ ॥

थोड़ी आय वाला अमात्य जनता और राज-परिवार को कष्टकारक होता है।

(नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वाऽपि-गन्तारोऽपकर्त्तारो वा ॥ १८ ॥

परदेशी व्यक्ति को अर्थाधिकार अर्थात् वित्तमन्त्री और प्राणाधिकार अर्थात् सैन्यमन्त्री नहीं बनाना चाहिए क्योंकि ऐसे आदमी कुछ दिनों तक काम करने के बाद भी अपने देश चले जाते हैं अथवा राजा का अपकार करते हैं।)

(स्वदेशजेष्वर्थः कूपे पतित इव कालान्तरादपिलब्धुं शक्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार कुए में गिरी हुई वस्तु या धन किसी समय निकाला भी जा सकता है उसी प्रकार स्वदेश वासी मन्त्री को अर्थाधिकार देने से उसके द्वारा गबन किया गया धन कभी न कभी किसी न किसी रूप से वसूल किया जा सकता है पर जो परदेशी होगा वह तो द्रव्यराशि लेकर अपने देश भाग जायगा और उससे फिर वह अर्थ नहीं मिल सकेगा।

चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद् वल्कलोत्पाटनमिव ॥ २० ॥

चिक्कण अर्थात् अत्यन्त मृदुस्वभाव वाले मन्त्री से अर्थ लाभ की आशा करना पत्थर की छाल निकालने के समान है जो अत्यन्त कोमल स्वभाव का होगा वह कठोरता के साथ कर आदि की वसूली न कर सकेगा और इस प्रकार राज्य-कोष क्षीण होता जायगा। चिक्कण का कृपण भी अर्थ दिया गया है।)

अधिकारी बनने योग्य व्यक्ति—

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुमनुगृहीतुं च शक्यते ॥ २१ ॥

वही व्यक्ति अधिकारी बनने योग्य है जो अपराधी सिद्ध होने पर सुविधा-पूर्वक दण्डित और पुरस्कृत किया जा सके।

ब्राह्मणः क्षत्रियः सम्बन्धी वा नाधिकर्त्तव्यः ॥ २२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और अपने सम्बन्धी को अधिकारयुक्त पद नहीं देना चाहिए।

ब्राह्मणो जाति-वशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति न प्रयच्छति वा ॥ २३ ॥

ब्राह्मण जातिगत स्वभाव के कारण प्राप्त धन को भी कठिनाईपूर्वक देता है अथवा नहीं भी देता।

क्षत्रियोऽनियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥ २४ ॥

क्षत्रिय को अधिकारी बनाने पर वह तलवार दिखाता है। अर्थात् उसने यदि गबन किया और राजा ने दण्ड देना चाहा तो वह राजा को ही मार डालना चाहेगा।

ज्ञातिभावेनातिक्रम्य बन्धुः सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥२५॥

राजा यदि अपने किसी बन्धु-बान्धव अथवा सम्बन्धी को अधिकारी बनाता है तो वह अन्य समस्त अधिकारियों को "मैं राजा का सम्बन्धी हूं। इस प्रकार के प्रभाव से प्रभावित कर सर्वाधिकार ले लेता है और धन को हड़प जाता है।

सम्बन्ध के तीन भेद—

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौखो यौनश्चेति ॥ २६ ॥

श्रौत, मौख और यौन भेद से सम्बन्ध तीन प्रकार का है।

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः ॥ २७ ॥

किसी गुरु महात्मा आदि से साथ-साथ दीक्षा ली हो अथवा साथ-साथ पढ़ा हो तो वह सम्बन्ध श्रौत है।

मुखेन परिज्ञातो मौखः ॥ २८ ॥

बातचीत में जिससे सम्बन्ध स्थापित हुआ हो वह मौख सम्बन्ध है।

योनेर्जातो यौनः ॥ २९ ॥

एक ही माता के उदर से उत्पन्न होनेपर यौन सम्बन्ध होता है।

वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

बातचीत के माध्यम से समुत्पन्न सम्बन्ध में अन्य यौन आदि सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती।

अधिकारी की नियुक्ति के समय विचार योग्य बातें—

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥ ३१ ॥

ऐसे किसी भी व्यक्ति को अधिकारी न बनावे, जिसे कारणवश दण्ड देने पर पश्चात्ताप करना पड़े या हो।

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

जो व्यक्ति राजा के द्वारा समादरणीय और पूज्य हो उसे अधिकारी बनाने से वह राजाज्ञा का उल्लंघन कर निर्द्वन्द्व होकर घूमता है ।

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ॥ ३३ ॥

पुराने सेवक को अधिकारी बना देने से वह अपराध कर बैठने पर भी नहीं डरता ।

उपकर्त्ताधिकारी उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ॥ ३४ ॥

जिसने अपने संग कोई उपकार किया हो ऐसे व्यक्ति को अधिकारी बनाने से वह अपने उपकार का ही सदा गुणगान करता हुआ स्वामी का सर्वस्व अपहरण कर लेता है ।

सहपांसुक्रीडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥ ३५ ॥

धूल मिट्टी में संग खेले हुए व्यक्ति को अधिकारी अथवा अमात्य बनाने से वह अत्यन्त परिचय के कारण स्वयं राजा के समान आचरण करता है ।

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥ ३६ ॥

जिसका हृदय कलुषित हो ऐसे को अधिकारी बनाने से वह सब प्रकार के उपद्रव करता है ।

शकुनिशकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥ ३७ ॥

इस विषय में शकुनि और शकटाल दृष्टान्त के रूप में है ।

गान्धार राज सुबल का पुत्र शकुनि दुर्योधन का मामा लगता था । दुर्योधन ने उसे अपना मन्त्री बनाया वह हृदय से दुष्ट प्रकृति का था अतः उसके कारण पाण्डवों से और दुर्योधन से वैर ठना और परिणामस्वरूप शकुनि और दुर्योधन दोनों का नाश हुआ ।

शकटाल राजा नन्द का मन्त्री था । वह भी स्वभाव से ही दुष्ट था । एक बार नन्द ने उसे कारागार का दण्ड दिया अनन्तर कुछ दिनों के बाद उसे ही पुनः मन्त्री बनाया उसने नन्द का उपकार भूल कर उसको नष्ट करने की सोची और चाणक्य से मिलकर नन्द का नाश किया ।

सोऽधिकारी चिरं नन्दति यः स्वामिप्रसादेन नोत्सेकयति ॥ ३८ ॥

वह अधिकारी चिरकाल तक आनन्द का उपभोग करता है जो स्वामी का कृपापात्र बनने पर गर्व नहीं करता ।

सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रत्वनाशः ॥ ३९ ॥

मित्र को अधिकारी बनाने से निश्चय ही धन और मित्र भाव का नाश होता है ।

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां सन्देहो, निश्चितौ चानर्थ नरकपातौ ॥ ४० ॥

मूर्ख पुरुष को अधिकारी बनाने से स्वामी के धर्म अर्थ और यश सन्दिग्ध हो जाते हैं तथा अनर्थ और नरक गमन तो निश्चित ही होता है।

किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा (स्वामिनः) ॥४१॥

उस अधिकारिवर्ग से क्या लाभ है जिसके रहते हुए स्वामी को स्वयं कष्ट उठाना पड़े और तब उसका कार्य पूर्ण हो अथवा सुख प्राप्त हो।

का नाम निर्वृतिः स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ॥ ४२ ॥

स्वयं ढोकर लाई गई घास को खाने वाले हाथी को क्या सुख होगा ?

सैन्धवाश्वधर्माणः पुरुषाः कर्मसु विनियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत ॥ ४३ ॥

सिन्धु देशीय घोड़ों के समान आचरणशील अधिकारी पुरुष जब कार्यों में लगा दिये जाते हैं तब बिगड़ जाते हैं अतः राजा को चाहिए कि प्रतिदिन इन अधिकारियों के विषय में जांच करता रहे।

कहा जाता है कि सिन्धु देश के घोड़े जब गाड़ी आदि में जोते जाते हैं अथवा उनसे सवारी का काम लिया जाने लगता है तब वे उपद्रव करना प्रारम्भ करते हैं और सवार को गिरा देते हैं गाड़ी को उलट देते हैं इत्यादि। इसी प्रकार कुछ अधिकारी भी अधिकार पाकर स्वच्छन्द अथवा मदमत्त होकर राज्य की प्रतिष्ठा की हानि करते हैं।

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वासकारणम् ॥ ४४ ॥

बिल्ली से दूध की रक्षा होने के समान नियोगियों—अधिकारियों पर विश्वास करना व्यर्थ है।

ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ॥ ४५ ॥

सिद्ध महात्माओं का यह आदेश है कि ऐश्वर्य अधिकारियों के चित्त को विकृत बना देता है।

सर्वोऽप्यतिसमृद्धो भवत्यायत्यामसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥ ४६ ॥

प्रायः समस्त अधिकारी अत्यन्त ऐश्वर्यशाली हो जाने पर अन्त में स्वामी के वश में नहीं होते अथवा बड़ी कठिनता से अनुकूल होते हैं या फिर स्वयं स्वामि-पद प्राप्ति का अभिलाष करते हैं।

भक्षणमुपेक्षणं, प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ॥ ४७ ॥

राज्य सम्पत्ति को आत्मसात् करना, राज्य सम्पत्ति की सुरक्षा में और

आय में उपेक्षा भाव रखना, बुद्धि शून्यता, कार्यों को रोक रखना, प्राप्त द्रव्य की लेखा पुस्तक में न लिखना, और द्रव्य विनिमय-सोना मिले पर कोष में जमा करे चांदी, मिले मोहर रखे रुपया, इस तरह के छह अमात्य दोष हैं।

बहुमुख्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ॥ ४८ ॥

राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य तन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिये अनेक मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति अस्थायी रूप में करें। एक ही व्यक्ति को स्थायी रूप से सर्वप्रमुख अधिकारी बना देने से वह कुछ भी अनर्थ कर सकता है।

स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसम्बन्धः ॥ ४९ ॥

अपनी स्त्रियों और सम्पत्ति के विषय का थोड़ा भी अधिकार देते समय यह ध्यान रक्खे कि अधिकार पाने वाला जातीय सम्बन्धी न हो।

स्वपरदेशजावनपेक्ष्यावनित्यश्चाधिकारः ॥ ५० ॥

अधिकारी की नियुक्ति करते समय स्वदेशज परदेशज का ख्याल न करके अस्थायी अधिकार दे। अर्थात् योग्य अधिकारी ही चाहे वह अपने देश का हो या दूसरे देश का किन्तु नियुक्ति उसकी अस्थायी हो।

विभागीय अध्यक्ष का पद—

आदायक-निबन्धक-प्रतिबन्धक-नीवीग्राहक-राजाध्यक्षाः करणानि ॥५१॥

आय, कर आदि ग्रहण करनेवाला, आय को लेखाबही में लिखनेवाला, उसकी जांच करनेवाला और आय-व्यय की शोध करने के अनन्तर बचे हुए द्रव्य को जमा करने वाला और राजाध्यक्ष-सर्वप्रमुख अधिकारी ये राजा के करण अर्थात् इतने प्रकार के विभागीय अध्यक्ष होते हैं।

"नीवी" की परिभाषा—

आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी ॥ ५२ ॥

आय में से आवश्यक व्यय करने के पश्चात् बचा हुआ द्रव्य "नीवी" है।

आय-व्यय की जांच का नियम—

नीवीनिबन्धनपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ॥ ५३ ॥

बही को अपने अधिकार में लेकर तब 'आय-व्यय' की 'जांच पड़ताल' करे।

आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

जब आय और व्यय में समानता हो और किसी कार्य विशेष के लिये अधिक व्यय करना हो तो चतुर कार्य पुरुषों से परामर्श कर व्यय का निश्चय करना चाहिए। उनके परामर्श से आय से अधिक भी व्यय कभी-कभी किया जा सकता है।

भ्रष्टाचार रोकने का उपाय—

नित्यपरीक्षणं, कर्मविपर्ययः, प्रतिपत्तिदानं च नियोगिष्वर्थग्रहणोपायाः ॥ ५५ ॥

अधिकारियों द्वारा अन्यायोपार्जित धन को प्राप्त करने के लिये राजा के पास तीन उपाय हैं। हिसाब की नित्य जाँच करते रहना, सौंपे गये काम की अदला-बदली करते रहना और समय-समय पर अधिकारियों को पुरस्कृत करते रहना।

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तः सारमुद्वमन्ति ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार दूषित फोड़े का भीतरी दोषयुक्त पदार्थ मवाद आदि बिना कसकर दबाये हुए नहीं निकलता उसी प्रकार बिना दण्ड के अधिकारी छिपाये हुए धन को नहीं देते।

पुनः पुनरभियोगो नियोगिषु महीपतीनां वसुधारा ॥ ५७ ॥

राजकीय आय का अपहरण करनेवाले अधिकारियों की पुनः पुनः भर्त्सना करते रहना राजा के लिये धन का स्रोत बन जाता है।

सकृन्निष्पीडितं स्नानवस्त्रं किं जहाति सार्द्रताम् ॥ ५८ ॥

एक बार निचोड़े गये स्नान-वस्त्र से क्या पूरा जल निकल जाता है?

देशमपीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ॥ ५९ ॥

देशवासियों को कष्ट न देकर जो अपने बुद्धि कौशल और उद्योग के द्वारा राज्य की सम्पत्ति को पूर्वापेक्षा अधिक कर सके वह अमात्य राजा के द्वारा सम्पत्ति और सम्मान दोनों ही प्राप्त करता है।

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥ ६० ॥

जो जिस कार्य में कुशल हो उसे उसी कार्य में लगावे। अर्थात् आदमी के योग्यता के अनुकूल काम सौंपना राजा का कर्तव्य है।

न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकारावेव ॥ ६१ ॥

सेवक के द्वारा कार्य की सिद्धि स्वामी की कृपा मात्र से नहीं होती किन्तु उसके लिये उसकी अपनी बुद्धि और उद्योग ही मूल कारण होते हैं।

शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥ ६२ ॥

कार्य का अनुभव न रहने पर शास्त्रों को जाननेवाला भी व्यक्ति किंकर्तव्य विमूढ हो जाता है।

अनिवेद्य भर्त्तुर्न किञ्चिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥ ६३ ॥

स्वामी के ऊपर आनेवाली आपत्ति को दूर कर देने वाले कार्य के अतिरिक्त कोई भी कार्य स्वामी से बिना बताये हुए प्रारम्भ न करे।

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥ ६४ ॥

राज्य में यदि किसी व्यक्ति के पास अकस्मात् धन की वृद्धि हो तो राजा को चाहिए कि वह उसका मूल धन मात्र उसके पास रहने दे और शेष बढ़ा हुआ धन अपने कोष के लिये ले ले यतः अकस्मात् धनवृद्धि चोरी डाका जुआ आदि किसी अन्याय मार्ग से ही होती है।

परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥ ६४ ॥

अधिकारियों में परस्पर कलह होना राजा के लिये निधि प्राप्ति है।

यतः परस्पर वैर होने से वे एक दूसरे की बुराई घूसखोरी षड्यन्त्र आदि राजा को बताते रहेंगे जिससे राजा को बहुधा उनका अन्याय का धन छीन लेने से धन प्राप्ति भी होगी और राजा को सब का भेद भी मालूम होता रहेगा।

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोषः ॥ ६५ ॥

अधिकारियों के पास प्रचुर धन का होना राजा का अपना दूसरा कोश होने के समान है यतः राजा को आवश्यकता होने पर उनसे धन लिया जा सकता है।

धान्य सङ्ग्रह की महत्ता—

सर्व संग्रहेषु धान्यसङ्ग्रहो महान् ॥ ६६ ॥

सब प्रकार के सङ्ग्रहों में धान्य (अन्न) का संग्रह श्रेष्ठ है।

यन्निबन्धनं जीवितं सकलः प्रयासश्च ॥ ६७ ॥

यतः अन्न के ही आधार पर मनुष्यमात्र का जीवन और समस्त प्रकार का उद्योग है।

न खलु मुखे प्रक्षिप्तं महदपि द्रव्यं प्राणत्राणाय यथा धान्यम् ॥६८॥

मुख में डाली गई महान् द्रव्यराशि जैसे सोने का टुकड़ा आदि से उस प्रकार प्राण रक्षा नहीं हो सकती जिस प्रकार अन्न के खाने से।

कोदों की विशेषता—

सर्वधान्येषु चिरं जीविनः कोद्रवाः ॥ ६९ ॥

सब प्रकार के अन्नों में कोदों नाम का अन्न चिरकाल स्थायी अन्न है।

अन्न सङ्ग्रह करने का क्रम—

अनवं नवेन वर्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥ ७० ॥

पुराने अन्न की वृद्धि नये अन्न से करे अर्थात् जब दूसरे वर्ष नया अन्न उत्पन्न हो उससे अपना भण्डार भरे और पुराने अन्न को खर्च कर डाले।

नमक के सङ्ग्रह की आवश्यकता—

लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥ ७१ ॥

नमक का संङ्ग्रह सब रसों के सङ्ग्रह से श्रेष्ठ है।

सर्वरसमप्यलवणमन्नं गोमयायते ॥ ७२ ॥

दूध दही आदि सब रसों के होने पर भी बिना नमक का भोजन गोबर के समान लगता है।

[इत्यमात्यसमुद्देशः]

१९. जनपदसमुद्देशः

राष्ट्र का लक्षण—

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम् ॥ १ ॥

पशु, अन्न और सुवर्ण सम्पत्ति से जो सुशोभित हो वह राष्ट्र है।

देश का लक्षण—

भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं ददातीति देशः ॥ २ ॥

जो राजा को अधिकार और कोशवृद्धि दे वह देश है।

विषय का लक्षण—

विविधवस्तु प्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विसिनोति बध्नाति इति विषयः ॥ ३ ॥

नाना प्रकार की वस्तुओं को देकर राजा के घर में हाथी घोड़े बंधाने के कारण (देश को) विषय कहा गया है।

मण्डल का अर्थ—

सर्वकामदुधात्वेन पतिहृदयं भण्डयन्ति भूषयतीति मण्डलम् ॥ ४ ॥

कामधेनु के समान सब प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करके स्वामी के हृदय को मण्डित करने के कारण (राज्यकी) मण्डल संज्ञा है।

जनपद का अर्थ—

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चार वर्णों और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रम वालों के रहने के स्थान और द्रव्य की उत्पत्ति का पद अर्थात् स्थान होने के कारण जनपद संज्ञा है।

"दरत्" का अर्थ—

निजपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयं दारयति भिनत्तीति दरत् ॥ ६ ॥

अपने स्वामी का उत्कर्ष करने के कारण शत्रुओं के हृदय विदीर्ण करने के कारण (राज्य को) दरत् कहते हैं।

पहाड़ी इलाकों को दरत् कहा जा सकता है। दरत् शब्द पहाड़ का वाचक है और दरदाः कश्मीर के सीमान्त वर्ती प्रदेश को कहते हैं।

निगम का अर्थ—

आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निगमयति निर्गमयतीति निगमः ॥ ७ ॥

जो अपनी समृद्धि के कारण स्वामी को सब प्रकार की आपत्तियों से निर्गम करा दे निकाल दे—बचा दे वह ही निगम है।

जनपद के गुण—

अन्योऽन्यरक्षकः, खन्याकरद्रव्यनागधनवान्, नातिवृद्धनातिहीनग्रामः, बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिः। अदेवमातृकः, पशुमनुष्यहितः, श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥ ८ ॥

जनपद के निम्नलिखित गुण हैं वह एक दूसरे का रक्षक हो अर्थात् जनपद से राजा की रक्षा होती हो और राजा से जनपद की रक्षा होती हो, वहाँ तरह-तरह के खनिज पदार्थ गन्धक, अभ्रक, नमक आदि और आकर से प्राप्त होने वाली धातुएं सोना, चांदी, तांबा आदि सम्पत्ति हो और उसके जंगलों में हाथी हों, उसके गांव न बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े ही हों, जिसमें बहुमूल्य और विचित्र-विचित्र प्रकार के धान्य, सुवर्ण तथा विक्रय की बाजारू वस्तुएं सुलभ होती हों, जहाँ की खेती-बाड़ी केवल देवमातृक न हो अर्थात् नहर नदी आदि हों न कि मेघ ही पानी बरसावे तो खेती हो, पशुओं और मनुष्यों के लिये समान रूप से हितकर हो वहां श्रेणी अर्थात् बढ़ई, जुलाहे, नाई, धोबी, मकान बनाने वाले कारीगर और चर्मकार आदि हों, इन सब गुणों से जनपद का गौरव होता है।

देश के लिये दोष—

विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्त्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलं, स्वल्पसस्योत्पत्तिः, तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥ ६ ॥

घास फूस और जल का विषाक्त होना, अधिकांश भूभाग का ऊसर, पथरीला, कंटीला अर्थात् कांटेदार झाड़ियों से युक्त होना तथा छोटे-बड़े गड्ढों से युक्त होना, बहुत वर्षा होने पर जीवन का निर्भर होना अर्थात् केवल धान की खेती वाला होना सर्प बहेलिया और म्लेच्छों की अधिकता, थोड़ा अन्न

उत्पन्न होना और वृक्षों के फलों पर जीवन निर्वाह की स्थिति का होना ये सब देश के दोष हैं।

सिचाई के साधनों की आवश्यकता—

तत्र सदा दुर्भिक्षमेव यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिश्चारम्भः ॥ १० ॥

वहां सदा दुर्भिक्ष-अकाल-ही रहता है जहां मेघ के जल पर ही खेती निर्भर हो और भूमि ऐसी हो कि वह जोती न जा सके अतः बिना जोती भूमि में यों ही बीज बिखेर कर अन्नोत्पत्ति हो।

क्षत्रियों के स्वभाव का वर्णन—

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुध्यन्ते ॥ ११ ॥

जहाँ प्रायः क्षत्रिय ही क्षत्रिय बसे हों ऐसे गांवो में थोड़ी ही थोड़ी बातों में लड़ाइयां ठन जाती हैं।

ब्राह्मणों की प्रकृति का वर्णन—

म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति ॥ १२ ॥

ब्राह्मण लोग मरण-सङ्कट में भी पड़कर राजा का देयद्रव्य मालगुजारी आदि सिधाई से नहीं देते। इन दोनों सूत्रों से आचार्य का आशय है कि राजा क्षत्रिय-बहुल और ब्राह्मण-बहुल ग्राम न बसावे।

पुनर्वास-व्यवस्था—

स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च ॥ १३ ॥

जो अपने राज्य का आदमी चाहे वह करदाता रहा हो या न भी रहा हो, यदि परदेश में चला गया हो या बस चुका हो वह यदि पुनः स्वदेश में आने को उन्मुख हो तो उसे दान-मान से सन्तुष्ट कर ले आवे और अपने राज्य में बसावे।

राज्य कर के विषय में सावधानी की आवश्यकता—

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ॥ १४ ॥

आदाय अर्थात् राज्य कर के सम्बन्ध में प्रजा का थोड़ा सा भी उपद्रव राजा की महती अर्थ हानि करता है।

राज्यकर ग्रहण में विचार की आवश्यकता—

क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥ १५ ॥

जब गेहूँ जो आदि के पौधों में दूध पड़ रहा हो अर्थात् इनकी मञ्जरियों में दाना लग रहा हो तब जो राजा अपना बकाया लगान आदि वसूल करने

के लिये उन्हें कटा लेता है तो उससे जनपद अर्थात् राज्य की बस्ती या सारी प्रजा उद्विग्न होकर देश छोड़ देती है। अतः राजा किसानों की लहलहाती खेती कभी न कटवावे।

लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥ १६ ॥

जब खेतों के कटने का समय आवे तब सेना को इतस्ततः खेतों में प्रचारित करने से राज्य में अकाल पड़ता है।

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति ॥ १७ ॥

प्रजा को यदि सब प्रकार से कष्ट ही मिलने लगता है तो उससे राजा के कोश को क्षति पहुंचती है अर्थात् प्रजा कर नहीं देती और इस प्रकार राजा का कोष रिक्त होता है।

दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात ॥ १८ ॥

राजा जिनको कुछ कर आदि की छूट दे चुका हो उनके ऊपर उसे अपना अनुग्रह पूर्ववत् रखना चाहिए अर्थात् माफी देकर उसे छीने नहीं।

राजा के लिये मर्यादा पालन की आवश्यकता—

मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥ १९ ॥

राज—मर्यादा का उल्लङ्घन करने से फूलता-फलता हुआ भी राज्य अरण्य तुल्य हो जाता है।

प्रजा वर्ग की सन्तुष्टि का उपाय—

क्षीणजनसम्भावनम्, तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः, कदाचित् किंचिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥ २० ॥

बाढ़, चोरी, डाका आदि से जो प्रजाजन क्षीण और धनहीन हो गये हों उनको रुपया--पैसा देकर सन्मानित करना प्रजा जितना कर प्रसन्नता से दे उसे ही लेना और स्वयम् अर्थात् जबर्दस्ती करके तृण-तुल्य भी तुच्छ कर आदि न लेना और कभी भी कुछ उपजीवन अर्थात् कर आदि में कुछ छूट या माफी देते रहना—ये प्रजा की वृद्धि के उत्कृष्ट उपाय हैं। इन बातों से प्रजा राजा से अत्यन्त सन्तुष्ट रहती है।

राज-कोष की वृद्धि आदि का विचार—

न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिण्ठा राज्ञां कामधेनुः ॥ २१ ॥

न्यायपूर्वक सुरक्षित शुल्क स्थान राजाओं के लिये कामधेनु के समान फलदायक होता है।

पण्य=बिक्री की चीजें, पुट=गठरी, बक्स आदि, भेदिनी=खोलने की जगह, पिण्ठा = शुल्कस्थान, चुङ्गी घर, कस्टम हाउस।

राज्य में जो चीजें बाजारों में बिकने के लिये बाहर से आती हैं उनका

गठुर या बक्स आदि चुङ्गीघरों पर खोलवाकर देखा जाता है इसीलिये उसका नाम पण्यपुटभेदिनी पिठा है। पिठा शब्द साहित्य में नया प्रयोग है। इसका किसी लौकिक अपभ्रंश से सम्बन्ध होगा।

इन चुङ्गीघरों पर किसी प्रकार की जोर--जबर्दस्ती और अन्याय न हो अर्थात् ज्यादा चुङ्गी न ले ली जाय, चोरी की चीज समझ में आवे तो पता लगाकर उसके मालिक को दे दी जाय इत्यादि। ऐसा होने से इन शुल्क स्थानों से राजा की आय बहुत अच्छी होती है।

राज्ञां चतुरङ्गबलाभिवृद्धये भूयांसो नक्तग्रामाः ॥ २२ ॥

राजाओं की चतुरङ्गिणी सेना की वृद्धि के लिये बहुत से धान्य के खेत वाले गांव सुरक्षित रहने चाहिए। अर्थात् ऐसे गांवों को किसी अन्य को लगान पर नहीं देना चाहिए। उनमें जो कुछ उत्पन्न हो वह सब चतुरंगिणी सेना के भक्ष्य--भोज्य के लिये हो।

सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय, युक्तं च शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः ॥ २३ ॥

विनिमय में सुवर्ण प्राप्ति के लिये राज्य में प्रचुर गायों का होना और युक्त अर्थात् न्याय कर ये दोनों राजा के कोश की वृद्धि के कारण हैं।

भूदान विषयक विचार--

देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥ २४ ॥

देवता और ब्राह्मण को दी जाने वाली भूमि जहां तक एक गौ के रंभाने का शब्द सुनाई पड़े उतनी ही अर्थात् स्वल्प हो क्योंकि इससे दाता और ग्रहण कर्त्ता दोनों को सुख होता है थोड़ी जमीन देने में दाता को कष्ट नहीं होता और ग्रहीता को प्रबन्ध में सरलता होती है।

क्षेत्र, वप्र, खण्ड, गृह, धर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः ॥ २५ ॥

क्षेत्र, कोट, खाईं आदि, तालाब, गृह और देवमन्दिर इन सब में क्रमशः उत्तरोत्तर का महत्त्व है पूर्व से उत्तर का बाध नहीं है।

राज्य की किसी परती = खाली जमीन को कोई खेत बनाले दूसरा उस पर कोट बना ले अथवा चहारदिवारी घिरवा दे, तीसरा तालाब बनवाले चौथा आदमी मकान बनवा ले और पांचवां उसे देवमन्दिर का रूप दे दे और अन्त में विवाद उठ खड़ा हो कि स्वामित्व किसका तो क्रमशः महत्त्व की दृष्टि से मन्दिर बना देने वाले का अधिकार प्रबल होगा। दान की दृष्टि से भी इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।

[इति जनपदसमुद्देशः]

२०. दुर्गसमुद्देशः

दुर्ग शब्द का अर्थ—

यस्याभियोगात् परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥ १ ॥

जिसके सम्मुख आ जाने पर शत्रुलोग दुःखी हो जाते हैं और दुष्टों के उद्योग से अपने ऊपर आने वाली आपत्तियों को जो दूर कर देता है वह दुर्ग है।

दुर्ग के दो भेद—

तद् द्विविधं स्वाभाविकम्, आहार्यञ्च ॥ २ ॥

यह दो प्रकार का होता है स्वाभाविक और आहार्य-पर्वत अथवा जल आदि से स्वभावतः घिरा हुआ स्थान स्वाभाविक दुर्ग है और खाई आदि से घेर कर पत्थरों आदि से बना हुआ विशाल रक्षा स्थान आहार्य दुर्ग है।

दुर्ग का स्वरूप—

वैषम्य, पर्याप्तावकाशो, यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य, परेषामभावो, बहुधान्यरससंग्रहः, प्रवेशापसारौ, वीरपुरुषा इति दुर्गसम्पद्, अन्यद् बन्दिशालावत् ॥ ३ ॥

भूमि का ऊंचा-नीचा होना, अन्दर बहुत बड़ा स्थान होना, अपने लिये घास लकड़ी आदि का प्रचुर मात्रा में सुलभ होना किन्तु शत्रु के लिये इनका अभाव होना (किले के भीतर गाय बैल घोड़ों का चारा घास आदि और लकड़ी तथा जल सुलभ हो जो अपने काम आवे और बाहर ये सब कुछ न मिलें जिससे शत्रु के पशु घास पानी बिना मर जायँ और ईंधन तथा जल के अभाव में शत्रु मर जायं) प्रचुर अन्न और गोरस घृतादि का संग्रह, प्रवेश-द्वार और पीछे से निकल भाग सकने का भी द्वार तथा वीर पुरुषों का समूह इतनी चीजें दुर्ग की महत्ता को बढ़ाने वाली हैं। इनके अभाव में दुर्ग, दुर्ग नहीं कारागार है।

दुर्ग का महत्त्व—

अदुर्गोदेशः कस्य नाम न परिभवास्पदम् ॥ ४ ॥

बिना दुर्ग के देश में कौन राजा परास्त नहीं होता ?

अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

बिना दुर्ग वाले राजा को, समुद्र के मध्य में जहाज से भटके हुए पक्षी के समान, आपत्तिकाल में कहीं आश्रय नहीं प्राप्त होता।

शत्रु का दुर्ग जीतने के उपाय—

उपायतो गमनम्, उपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलम्भोपायाः ॥ ६ ॥

सामादिक उपाय से शत्रु के किले तक पहुँच जाना, वहाँ के आदमियों और अधिकारियों को फोड़ना, बहुत दिनों तक घेरा डाले रहना, और आक्रमण के लिये तीक्ष्ण अर्थात् घातक पुरुषों का उपयोग करना यह सब शत्रु के दुर्ग को जीतने के उपाय हैं।

दुर्ग प्रवेश और निर्गम के नियम—

नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ७ ॥

प्रवेश अथवा निर्गम पत्र लिये बिना एवम् असंशोधित अर्थात् तलाशी दिये लिये बिना कोई भी व्यक्ति न तो किले में प्रविष्ट हो न बाहर निकले।

श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥ ८ ॥

ऐसा प्रसिद्ध है कि हूणों के अधिपति ने व्यापारियों के वेश में अपने महान् योद्धाओं को भेज कर चित्रकूट पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।

खेटकखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं काञ्चीपतिमितिः ॥ ९ ॥

सेवकों के रूप में अपने लट्ठधारी और खड्गधारी योद्धाओं को भेजकर शत्रु ने भद्र नाम के काञ्चीपति को अपने अधीन कर लिया था।

[इति दुर्गसमुद्देशः]

२१. कोशसमुद्देशः

कोश शब्द का अर्थ—

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तन्त्राभ्युदयं कोशयति संश्लेषयतीति स कोशः ॥ १ ॥

दुःख और सुख के समय में जो स्वामी के सैन्यबल को समृद्ध कर सकता है वह कोश है।

कोश के गुण—

सातिशयहिरण्य रजतप्रायो, व्यावहारिकपिण्याकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ॥ २ ॥

अत्यधिक सोना चांदी से संयुक्त होना, व्यवहारोपयोगी प्रचुर सिक्कों अशर्फी आदि का होना, और महान् आपत्ति के अवसर पर व्यय के निमित्त प्रचुर धन का मिल सकना, यह कोश के गुण हैं।

कोश वृद्धि की आवश्यकता—

कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥ ३ ॥

राजा को चाहिए कि वह कोश की वृद्धि करता हुआ ही प्राप्त धन का उपयोग करे।

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति ॥ ४ ॥

जो राजा प्रतिदिन एक कौड़ी भी जोड़कर कोश की वृद्धि नहीं करता रहता भविष्य में उसका कल्याण कैसे हो सकता है।

कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः ॥ ५ ॥

राजाओं का वास्तविक प्राण अर्थात् जीवन उनका कोश ही होता है।

क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥ ६ ॥

क्षीण कोश वाला राजा नागरिकों को अन्यायपूर्वक पीडित करता है जिससे राष्ट्र शून्य हो जाता है। लोग बस्ती छोड़-छोड़ कर भाग जाते हैं।

कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरम् ॥ ७ ॥

कोश राजा कहा जाता है राजाओं का शरीर नहीं राजा कहा जाता।

द्रव्य की महत्ता—

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ॥ ८ ॥

जिसके हाथ पैसा होता है वही जीतता है।

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥ ९ ॥

धनहीन व्यक्ति को उसकी स्त्री भी छोड़ देती है तो फिर औरों से वह क्यों न परित्यक्त होगा ?

न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सेव्यतामेति ॥ १० ॥

कुलीनता और सदाचार से पुरुष सेव्य नहीं होता अर्थात् जब तक पैसा न हो तब तक मनुष्य कुलीनता और सदाचार के कारण पूजित नहीं होता।

स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनम् ॥ ११ ॥

महान् और कुलीन वही है जिसके पास प्रचुर धन है।

किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ॥ १२ ॥

ऐसी कुलीनता और महत्ता से भी क्या लाभ जिससे दूसरों का भला न हो सके अथवा दूसरे सन्तुष्ट और परितृप्त न हों।

तस्य किं सरसो महत्त्वेन यत्र न जलानि ॥ १३ ॥

जिसमें जल ही न हो उस जलाशय की क्या महत्ता है ?

क्षीणकोश की वृद्धि का उपाय--

देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूट गणिका-सङ्घ-पाखण्डि-विभव-प्रत्यादानैः समृद्ध पौरजानपद-द्रविण-संविभाग - प्रार्थनैरनुपक्षयश्रीकरणमन्त्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयगृहगमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ॥ १४ ॥

जिस राजा का कोश क्षीण हो गया हो उसे चाहिए कि वह देवता, ब्राह्मण और वणिक् जनों की ऐसी सम्पत्ति ग्रहण कर ले जो धर्म के काम में न आती हो, यज्ञादि के उपयोग में न हो, तथा कुटुम्ब पोषण में उपयोगी न हो तथा धनी, विधवा, धर्माधिकारी, गांव में लेन-देन का व्यापार करने वाला महाजन, वेश्या समूह और पाखंडियों का धन ग्रहण करके तथा अत्यन्त समृद्धिशाली नागरिकों और ग्रामीणों से कुछ धन मांग करके और जिनकी लक्ष्मी क्षीण न हुई हो अर्थात् वैभवशाली बने हों ऐसे मन्त्री पुरोहित, सामन्त, और भूमिधरों से विनयपूर्वक मांगकर तथा उनके घर जाकर उनसे मेल-मिलाप बढ़ाकर उनसे धन लेकर इस प्रकार अनेक उपायों से अपने रिक्त कोश की पूर्ति करे।

[इति कोशसमुद्देशः]

---

२२. बलसमुद्देशः

बल अर्थात् सैन्य का अर्थ--

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥ १ ॥

शत्रु का निवारण करके, प्रियभाषण और धन दान के द्वारा जिससे सभी अवस्था में स्वामी के हितों की सुरक्षा हो उसको बल कहते हैं। सैन्य शक्ति की प्रबलता से ही राजा से अन्यराष्ट्र प्रियभाषण या मैत्री करते हैं और सहज रूप से कर आदि प्राप्त हो जाता है और शत्रु का संहार भी सेना ही करती है।

सैन्य शक्ति मे हाथी का प्राधान्य--

बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गम्, स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥ २ ॥

बल चतुरङ्गिणी सेना में हाथी प्रधान अङ्ग है, हाथी अपने अङ्गों के कारण 'अष्टायुध' होते हैं। वह चारों पैरों से रौंदता है, दोनों दांतों से शत्रु पर प्रहार करता है और पूंछ तथा सूंड से भी शत्रु को मारने में समर्थ होता

है इस प्रकार आठ अङ्गों से शत्रु पर प्रहार करने के कारण हाथी अष्टा-युध है।

हस्ति प्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपिहस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥ ३ ॥

राजाओं की विजय में हाथी प्रधान कारण होता है यतः अकेला भी हाथी हजार योद्धाओं से लड़ता है और हजार प्रहार होने पर भी पीड़ित नहीं होता।

जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्रीसम्पत्तिः ॥ ४ ॥

हाथी के बल के सम्बन्ध में जाति, वंश, वन और प्रचार यह चार विशेषताएं होती हैं किन्तु इन सबमें प्रधानता न होकर उसके लिये शारीरिक बल शौर्य और शिक्षा तथा उसके योग्य सामग्री की प्राप्ति प्रधान है।

हाथी यदि शरीर से पुष्ट न हुआ तो वह युद्ध में क्या करेगा? यदि उसमें स्वाभाविक साहस और शौर्य न हुआ तो भी वह व्यर्थ है इसी प्रकार बनैला हाथी यदि रणभूमि के योग्य शिक्षित नहीं किया गया तो वह महावत या स्वामी को ही मार सकता है। शिक्षा के अनुरूप सामग्री भी न एकत्र की जा सकी तो भी हाथी की कला व्यर्थ होगी।

हाथी की मन्द, मृग, संकीर्ण और भद्र यह चार जातियां हैं। ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अंजन, पुष्पदन्त और सार्वभौम ये आठ कुल हैं। यही ८ दिग्गजों के भेद के रूप में अमरकोश में परिगणित हैं।

अशिक्षित हाथी का दोष—

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ॥ ५ ॥

अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राण हरण करने वाले होते हैं।

हाथी के गुण—

सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनम्, अरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धोवचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥ ६ ॥

सुखपूर्वक चलना, आत्मरक्षा, शत्रु के नगर को रौंद देना, शत्रु की व्यूह-रचना का विनाश कर देना, जल में पुल सा बांध देना, और कर्कश चिघाड़ रूपी वचन के अतिरिक्त अनेक प्रकार से मनोविनोद करना ये हाथी के गुण हैं।

अश्वसेना की उपयोगिता—

अश्वबलं सैन्यस्य जङ्गमः प्रकारः ॥ ७ ॥

अश्वबल सेना का जङ्गम भेद है। सेना में घोड़ों की सेना का चलता-

फिरता स्वरूप है। घोड़े इतने चञ्चल और तीव्र गति वाले होते हैं कि वे सेना में गति उत्पन्न कर देते हैं।

अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रवः, आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरङ्गमा एव, सरणम् अपसरणम्, अवस्कन्दः, परानीकभेदनं च तुरङ्गमसाध्यम् एतत् ॥ ८ ॥

जिस राजा की सेवा में "अश्वबल" प्रधान होता है उसके ऊपर शत्रु संहार रूपी कन्दुक (गेंद) से क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी प्रसन्न होती है, उसके दूरवर्त्ती शत्रु भी हस्तगत हो जाते हैं। आपत्तियों में सब प्रकार के मनोरथों की सिद्धि घोड़ों के द्वारा ही होती है। सरण = आगे बढ़ना, अपसरण = पीछे हटना, अवस्कन्द = शत्रु पर छल से प्रहार और शत्रु-सैन्य का भेदन यह सब घोड़ों की सहायता से ही सिद्ध होते हैं।

जात्य घोड़े का लाभ—

जात्यारूढो विजिगीषुः शत्रोर्भवति, तत्तस्य गमनं नारातिर्ददाति ॥ ९ ॥

जात्य = अच्छी नस्ल वाले घोड़े पर चढ़ा हुआ राजा शत्रु पर विजयी होता है और शत्रु उस पर आक्रमण नहीं कर पाता।

संग्राम विजय के साधन—

समाभूमिर्धनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्त्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ॥ १० ॥

सङ्ग्राम में समतल भूमि मिले और धनुर्वेद-विशारद रथारूढ योद्धा गण हों तो राजाओं के लिये कुछ असाध्य नहीं होता।

रथ की आवश्यकता—

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते ॥ ११ ॥

रथों द्वारा कुचली गई शत्रुसेना सुखपूर्वक जीती जाती है।

सेना के छह भेद—

मौल-भृतक-भृत्य-श्रेणी-मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत ॥ १२ ॥

सेना के छह भेद हैं—मौल = वंश-परम्परा से योद्धाओं की सेना, निम्न कर्मचारियों की सेना, सेवकों की सेना, तेली, नाई, शिल्पी, चर्मकार आदि अनेक जातियों की सम्मिलित सेना, मित्रों की सेना और अरण्यचारियों की सेना इनमें क्रमशः पूर्व--पूर्व बलके लिये राजा को यत्न करना चाहिए—इस विचार से जन्मजात लड़ाकू जाति वालों की सेना सर्वश्रेष्ठ है। जिनमें वंश-परम्परा से सैनिक होते आये हों उन लोगों के सन्नाह से निर्मित सेना सर्वश्रेष्ठ है।

सेना का सातवां विशेष भेद—

अथान्यत् सप्तमम् औत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति ॥ १३ ॥

इनके अतिरिक्त सातवीं सेना औत्साहिक सेना है जो जयाभिलाषी पुरुष के यात्राकाल में शत्रुराष्ट्र के भङ्ग कर देने के ही लिये सङ्गठित होती है।

औत्साहिक सेना के गुण—

क्षत्रसारत्वं, शस्त्रज्ञत्वं, शौर्यसारत्वम्, अनुरक्तत्वञ्चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥ १४ ॥

क्षत्रिय राजपूतों की प्रधानता, शस्त्र निपुणता, पराक्रम प्रधान होना, और स्वामी पर अनुरक्त होना यह औत्साहिक सैन्य के गुण हैं।

उक्त छः प्रकार की सेना के साथ व्यवहार का वर्णन—

मौलबलाविरोधेनान्यद् बलम् अर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ॥ १५ ॥

मौल अर्थात् वांशिक योद्धाओं की सेना के सम्मान का ध्यान रखते हुए अन्य प्रकार की सेनाओं को धन दान और सम्मान से अनुगृहीत करे।

मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न दुष्यति, भवति चापरेषामभेद्यम् ॥ १६ ॥

मौल वर्ग की सेना आपत्तिकाल में भी स्वामी का अनुसरण करती है, दण्डित होने पर भी विद्रोह नहीं करती, और शत्रु के द्वारा अभेद्य होती है।

न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ॥ १७ ॥

पुरुष धन प्राप्ति के कारण युद्ध में उतनी रुचि के साथ नहीं प्रवृत्त होता जितना कि स्वामी के द्वारा प्राप्त सम्मान से।

सेना की विरक्ति के कारण—

स्वयमनवेक्षणम्, देयांशहरणं, कालयापना, व्यसनाप्रतीकारो, विशेषविधावसंभावनञ्च तन्त्रस्य विरक्तिकारणानि ॥ १८ ॥

राजा की सेना की विरक्ति के कारण होते हैं—राजा का स्वयं सेना की देख-भाल न करना, उनको दातव्य अंश का अपहरण कर लेना, समय टालना, उनके आपत्ति ग्रस्त होने पर उसका कोई उपाय न करना, और विवाह आदि शुभावसरों पर उनका यथोचित सम्मान न करना।

सेना का स्वयं निरीक्षण आवश्यक—

स्वयमवेक्षणीयं सैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतन्त्राभ्यां परिहीयते ॥ १९ ॥

स्वयं द्रष्टव्य सेना का दूसरों से पर्यवेक्षण कराने से राजा अर्थ और सैन्य बल से क्षीण हो जाता है।

आश्रितभरणे, स्वामिसेवायां, धर्मानुष्ठाने, पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ॥ २० ॥

अपने सहारे जीने वालों का भरण-पोषण, स्वामी की सेवा, धर्म-कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रोत्पत्ति का कार्य इन चार कामों में दूसरे से प्रतिनिधित्व नहीं कराया जाता।

आश्रितों को दान द्वारा सन्तुष्ट करने की विधि—

तावद् देयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

अपने आश्रितों को स्वामी को इतना धन देना चाहिए जिससे वह पूर्ण सन्तुष्ट हो सकें।

सेना का राजा के प्रति कर्त्तव्य—

न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ॥ २२ ॥

राजा यदि अपना धन (सेवक का, सैन्य का वेतन आदि) न भी दे तब भी उस पर कुपित अथवा उसे दण्डित न करना चाहिए। अर्थात् सेना को चाहिए कि वह विद्रोह करके राजासे हठात् वेतन लेने की चेष्टा न करे।

को नाम सचेताः स्वगुडं चौर्यात् खादेत् ॥ २३ ॥

कौन ऐसा समझदार व्यक्ति होगा जो अपना गुड़ चोराकर खायेगा।

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥ २४ ॥

जो समय पर वर्षा न करे उस मेघ से क्या लाभ ?

स किंस्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥ २५ ॥

वह स्वामी निन्दनीय है जो अपने आश्रितों की आपत्तिकाल में सहायता नहीं करता।

राजा का सेना के प्रति कर्त्तव्य—

अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्ययेनोत्सहेत ॥ २६ ॥

जो राजा गुणग्राही और कृतज्ञ नहीं है उसके लिये कौन प्राण देने को उत्साहित होगा ?

[इति बलसमुद्देशः]

२३. मित्रसमुद्देशः

मित्र का लक्षण—

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥ १ ॥

जो सुख के दिनों के समान दुःख के दिनों में भी स्नेह करता है वह 'मित्र' है।

नित्य मित्र का लक्षण—

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥ २ ॥

बिना किसी कारण के ही जिनमें परस्पर रक्ष्य-रक्षक भाव होता है वह नित्य मित्र है।

सहज मित्र का लक्षण—

तत्सहजं मित्रं यत् पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥ ३ ॥

पूर्वजों की परम्परा से जहां सम्बन्ध हो वह सहज मित्र है।

कृत्रिम मित्र का लक्षण—

यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत् कृत्रिमं मित्रम् ॥ ४ ॥

जीविका अथवा प्राणरक्षा के लिए जो आश्रित होता है वह कृत्रिम मित्र है।

मित्र के गुण—

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः, स्त्रीषु परमं शौचं, कोपप्रसादविषये वाऽप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ॥ ५ ॥

मित्र के सङ्कटग्रस्त होने पर सहायतार्थ समुपस्थित होना, द्रव्य के संबन्ध में कपट हीन होना, स्त्री के संबन्ध में परम पवित्र भाव रखना, क्रोध आने पर मनावन की आशा न करना अथवा प्रतिकूल न होना यह मित्र के गुण हैं।

मित्र के दोष—

दानेन प्रणयः, स्वार्थपरत्वं, विपद्युपेक्षणम्, अहितसम्प्रयोगो, विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ॥ ६ ॥

दान के कारण प्रेम करना, स्वार्थपरता, विपत्ति के अवसर पर उपेक्षा कर देना, मित्र के अहितकारी शत्रु आदि से व्यवहार रखना, और कपट मिश्रित अर्थात् दिखावटी नम्रता का प्रदर्शन यह मित्र के दोष हैं।

मैत्री भेद के कारण—

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणं पैशून्याकर्णनञ्च मैत्रीभेदकरणानि ॥ ७ ॥

मित्र की स्त्री से समागम करना, मित्र से विवाद करना, बारम्बार पैसा रुपया आदि मांगते रहना, उसे कुछ न देना, रुपये पैसे के लेन देन आदि का सम्बन्ध रखना, परोक्ष में (पीठ पीछे) दोषों की चर्चा करना, और उसकी चुगली सुनना इन सब कारणों से मित्रता भङ्ग होती है।

मैत्री के लिये आदर्श—

न हि क्षीरात्परं महदस्ति, यत्संगतिमात्रेण करोति नीरम् आत्मसमम् ॥ ८ ॥

मैत्री के आदर्शों में दूध से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है जो मिलते ही पानी को अपने तुल्य बना लेता है।

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥ ९ ॥

पानी से भी बढ़ कर दूसरी वस्तु नहीं है जो दूध से मिलते ही उसकी वृद्धि करता है और अपने को मिटा कर (जल जाने पर) भी दूध की रक्षा करता है।

येन केनाप्युपकारेण तिर्यञ्चोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥ १० ॥

पशु आदि तिर्यग्योनि के भी प्राणी कुछ न कुछ उपकार करके प्रत्युपकार करते हैं और उपकारी के प्रतिकूल नहीं होते किन्तु मनुष्यों में प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता।

यहां आचार्य प्रवर का आशय यह है कि विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि पशु-पक्षी तो उपकृत होने पर उपकार करने वाले की कुछ न कुछ भलाई प्रत्युपकार के रूप में अवश्य करते हैं और प्रतिकूल तो कभी होते ही नहीं किन्तु मनुष्य ऐसा है कि वह कृतघ्नता भी कर बैठता है अतः मनुष्य को पशु-पक्षियों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में दो उदाहरण आख्यान के रूप में यों हैं :—

तथा चोपाख्यानकम्—

अटव्यां किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिक-सौवर्णिकेषु कृतोपकारः कङ्कायननामा कश्चित् पान्थो विशालायां पुरि तस्मादाक्षशालिकाद् व्यापादनमवाप नाडीजङ्घश्च गौतमादिति ॥ ११ ॥

जङ्गल में एक बार घास फूस से ढँके हुए एक अन्धकूप में बन्दर, सर्प, सिंह और आक्षशालिक अर्थात् एक जुआड़ी सुनार अथवा सर्राफ गिर पड़े। उधर से संयोगवश कङ्कायन नाम का एक पथिक आया और उसने क्रमशः सबको कुएं से निकाल कर उनका उपकार किया—जिनमें से बन्दर सर्प और सिंह ने तो उस पथिक के साथ यथाशक्ति उपकार करके अपने अपने घर का रास्ता लिया किन्तु उस जुआड़ी ने उसके संग घूमते रहकर मित्रता की और विश्वास उत्पन्न किया किन्तु अन्त में उस पथिक के पास वर्तमान धन की

प्राप्ति के लोभ से उसे बिशाला नगरी में जब कि वह किसी शून्य देवालय में सो रहा था—तब रात्रि के समय मार डाला। इसी प्रकार नाडीजङ्घ नाम के किसी उपकारी को गौतम नामक व्यक्ति ने मार डाला था।

[इति मित्रसमुद्देशः]

२४. राजरक्षासमुद्देश

राजा की सर्वविध रक्षा आवश्यक है—

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥ १ ॥

राजा की रक्षा होने पर सब की रक्षा होती है अतः आत्मीयों पट्टीदारों आदि और अनात्मीयों = शत्रु आदि से राजा की रक्षा सर्वदा करनी चाहिए।

राजरक्षा के उपाय—

सम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्माणं च जनम् आसन्नं कुर्वीत ॥ २ ॥

इसीलिये नीतिवेत्ताओं ने कहा है कि राजा को अपना अङ्गरक्षक और आसन्नचारी ऐसे आदमी को बनाना चाहिए जिसका पिता और पितामह की परम्परा से कोई सम्बन्ध रहा हो, महासम्बन्ध अर्थात् विवाह आदि के सम्बन्ध से वह कोई सम्बन्धी होता हो, शिक्षित हो, और अपने प्रति अनुरक्त एवं श्रद्धालु हो तथा राज-काज कर चुका हो।

अन्यदेशीयम् , अकृतार्थमानं, स्वदेशीयञ्चापकृत्योपगृहीतम्-आसन्नं न कुर्वीत ॥ ३ ॥

जो अन्य देश का हो, धनादि देकर जिसका कभी सम्मान न किया हो अपने देश का भी हो किन्तु कभी स्वयं दण्डित करके पुनः उसे रख लिया हो, इस प्रकार के व्यक्तियों को राजा अपना आसन्न चारी न बनावे।

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः, किन्न भवति माताऽपि राक्षसी ॥ ४ ॥

चित्त में विकृति उत्पन्न होने पर—नियत बिगड़ने पर मनुष्य के लिये कोई भी कार्य अकार्य नहीं रह जाता। क्या माता भी राक्षसी होती नहीं देखी जाती? वह अपने ही पुत्र का अपने हाथों से गला घोंटने वाली देखी जाती हैं।

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥ ५ ॥

बिना स्वामी की प्रजा समृद्ध होकर भी सङ्कट के समय स्वयम् अपना उद्धार नहीं कर सकती।

देहिनि गतायुषि सकलाङ्गे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः ॥ ६ ॥

जब प्राणी की आयु ही निःशेष हो गई हो तब समस्त अंगों के होते हुए भी धन्वन्तरि भी वैद्य के रूप में क्या कर सकते हैं ?

राजा की रक्षा के लिये विचारणीय क्रम—

राज्ञस्तावदासन्नाः स्त्रिय आसन्नतरा दायादा, आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ॥ ७ ॥

राजा की समीपवर्त्तिनी स्त्रियां होती हैं, उनसे अधिक समीपवर्ती दायाद-पट्टीदार और उनसे भी निकटतम पुत्र होते हैं। अतः सर्व प्रथम स्त्रियों से राजा की रक्षा करनी चाहिए उसके अनन्तर पट्टीदारों से और तब पुत्रों से रक्षा करनी चाहिए।

आप्लवङ्गादाचक्रवर्त्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥ ८ ॥

बानर से लेकर चक्रवर्ती राजा तक सभी व्यक्ति स्त्री-सुख की प्राप्ति के लिये ही क्लेश उठाते हैं।

निवृत्तस्त्रीसङ्गस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥ ९ ॥

वनिताओं के सुख भोग से विरक्त व्यक्ति के लिये धन का संचय मृतक को वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित करने के समान व्यर्थ है।

स्त्रियों की प्रकृति का वर्णन—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥ १० ॥

सभी स्त्रियां क्षीरसमुद्र के समान विष और अमृत दोनों का स्थान हैं। समुद्रमन्थन करने पर उसी से हलाहल विष और अमृत दोनों ही निकले थे उसी प्रकार स्त्रियां अमृत के समान सुखदायक और विष के समान दुःखदायक दोनों ही हैं।

मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥ ११ ॥

मगर की डाढ़ के समान स्त्रियां स्वभाव से ही कुटिल स्वभाव वाली होती हैं।

स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥ १२ ॥

स्त्रियों को वश में कर लेने का उपाय देवताओं के लिये भी दुर्लभ है।

कलत्रं रूपवत्, सुभगम्, अनवद्याचारम्, अपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥ १३ ॥

स्त्री-सुन्दरी, सौभाग्यशालिनी, अनिन्द्य चरित्रवाली और संतानवाली हो यह महान् पुण्य से होता है।

कामदेवोत्सङ्गस्थापि स्त्री पुरुषान्तरम् अभिलषति च ॥ १४ ॥

कामदेव की भी गोद में बैठी हुई स्त्री पर पुरुष की अभिलाषा करती ही है।

न मोहो, लज्जा, भयं, स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ।। १५ ।।

मोह, लज्जा और भय से स्त्री की रक्षा नहीं हो सकती किन्तु उसकी रक्षा के तीन ही उपाय हैं वह पर पुरुष को देख न सके, पति द्वारा उसे संभोग सुख प्राप्त होता रहे, और पति यदि अन्य स्त्रियों से भी सम्पर्क रखता हो तो उन सबमें सर्वथा समान व्यवहार रक्खे।

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ।। १६ ।।

जिस पुरुष को बहुत सी स्त्रियां हों वह यदि उन सबसे समानरूप से मिलता-जुलता और रुपया-पैसा तथा वस्त्रालङ्कार आदि देता रहता है तो कोई भी स्त्री उससे विरोध नहीं करती।

परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ।। १७ ।।

विवाहिता पत्नियों में प्रिय-अप्रिय का भेद न रक्खे। सबको समान भाव से माने।

कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयत एव ।। १८ ।।

कारणवश अर्थात् रोगादि की शान्ति के लिये नीम भी खाई जाती है अतः स्त्रीविरोध के कारण अपने नाश को बचाने हेतु सुन्दरी कुरूपा समस्त प्रकार की विवाहित पत्नियों में एक जैसा व्यवहार करे।

ऋतुमती स्त्री के प्रति पुरुष का कर्त्तव्य—

चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थापराधो महान् धर्मानुबन्धः ।।१६।।

ऋतुमती स्त्री जब चौथे दिन स्नान करती है तब वह तीर्थ तुल्य है उस समय पति का उसके पास न जाना तीर्थ में अपराध करने के समान महान् अधर्म का कारण होता है।

ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितृणामृणभाजनम् ।। २० ।।

जो ऋतुकाल में स्त्री समागम नहीं करता और उसकी उपेक्षा करता है वह अपने पितरों का ऋणी बना रहता है।

अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ।। २१ ।।

ऋतुकाल में भी उपेक्षित स्त्रियां स्वयं नष्ट हो जाती हैं अथवा स्वामी का नाश कर देती हैं।

न स्त्रीणामकर्त्तव्ये मर्यादास्ति, वरमविवाहो नोढोपेक्षणम् ।। २२ ।।

स्त्री के कुकृत्य की कोई मर्यादा नहीं है अर्थात् वह बुरे से बुरा कार्य कर

सकती है। मनुष्य का विवाह न करना श्रेष्ठ है किन्तु विवाहिता की उपेक्षा ठीक नहीं है।

स्त्री रक्षा की आवश्यकता—

अकृतरक्षस्य किं कलत्रेण, अकृषतः किं क्षेत्रेण ॥ २३ ॥

जो खेती नहीं करता उसके लिये जिस प्रकार खेत व्यर्थ है उसी प्रकार जो स्त्री की रक्षा न कर सके उसके लिये स्त्री व्यर्थ है।

पति से स्त्री की विरक्ति के कारण—

सपत्नीविधानं, पत्युरसमञ्जसं च, विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तिकारणानि ॥ २४ ॥

एक स्त्री होते हुए दूसरा-तीसरा विवाह कर सपत्नी बनाना, पति के मन से मन का न मिलना, पति के द्वारा अनादर, सन्तान का अभाव, और पति का चिर वियोग—इन कारणों से स्त्रियां पति से विरक्त हो जाती हैं।

स्त्री के भले बुरे होने में संगति की प्रधानता—

न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किन्तु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥ २५ ॥

स्त्रियों में स्वाभाविक गुण-दोष नहीं होता, किन्तु नदियां जिस प्रकार समुद्र में मिलकर खारे जलवाली हो जाती हैं उसी प्रकार पति के गुण दोषों के अनुरूप स्त्रियां भी गुण दोषवती बन जाती हैं।

स्त्रियों में स्त्री दूत की आवश्यकता—

स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥ २६ ॥

स्त्रियों के पास सन्देश आदि भेजने के लिये स्त्रियों को ही दूती बनाना चाहिए क्योंकि तिर्यक् योनि के पशु आदि के पुरुष-संयोग से स्त्रियां दूषित हो जाती हैं, फिर मनुष्य संयोग के विषय में तो कहना ही क्या है ?

स्त्रीरक्षण का उद्देश्य—

वंशविशुद्ध्यर्थम् अनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थम् ॥ २७ ॥

स्त्रियों की रक्षा अर्थात् विवाह आदि करके स्त्री का लाना वंश की शुद्धि और अनर्थों से बचाव के लिये किया जाता है केवल भोग के लिये नहीं।

वेश्या के साथ व्यवहार—

भोजनवत् सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥२८॥

जिस प्रकार होटल आदि का बाजारू भोजन सबके लिये समान रूप से सुलभ होता है उसी प्रकार वेश्याएं सर्वसाधारण के उपभोग के लिये होती हैं उनमें हर्ष और अमर्ष (क्रोध) कैसा ?

यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनर्थवानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥ २९ ॥

राजा अपने सौख्य के अनुसार कामिनियों (वेश्याओं) को रख सकता है। किन्तु यह काम अनर्थकारी और अमङ्गलकारक है। वेश्या किसी दूसरे से सम्पर्क न रखे अथवा उसके यहां कोई दूसरा न आवे यह कैसे हो सकता है? जिस द्वार पर उसका रक्षक कोई द्वारपाल नहीं होता वहां कौन नहीं प्रविष्ट होता ?

राजा के योग्य वेश्या—

मात्राभिजनविशुद्धाः, राज्ञः उद्‌वसत्युपस्थायिन्यः स्त्रियः संभोक्तव्याः ॥ ३० ॥

जिनकी माता के विषय में ज्ञात हो सके और जो राजद्वार पर नृत्य आदि के निमित्त आती रहती हों ऐसी ही वेश्याएं राजा के भोग योग्य हैं।

दर्दुरस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥ ३१ ॥

राजा का (परकीया अथवा वेश्या) स्त्रीगृह में प्रवेश वैसा ही निरापद नहीं है जैसा कि मेढक का सर्प के गृह में प्रवेश।

न हि स्त्रीगृहादायातं किञ्चित् स्वयमनुभवनीयम् ॥ ३२ ॥

स्त्री के गृह से आया हुआ कोई भी भोज्य आदि राजा को स्वयम् नहीं खाना चाहिए। अर्थात् उसका दूसरों से परीक्षण करा करके ही कि उसमें विष आदि तो नहीं मिला है राजा को उसका उपयोग करना चाहिए।

नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥ ३३ ॥

स्वयम् अनुभवनीय वस्तुओं अर्थात् भोजन आदि के विषयों में स्त्रियों को नहीं नियुक्त करना चाहिए।

स्त्रियों के निन्दनीय कृत्य और तत्सम्बन्धी आख्यान—

संवननं स्वातन्त्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥ ३४ ॥

वशीकरण, मारण मोहन आदि और स्वतन्त्रता की अभिलाषा करती हुई स्त्रियां क्या नहीं कर डालतीं ? अर्थात् निन्दनीय से भी निन्दनीय कुकृत्य करने में उनको सङ्कोच नहीं होता।

श्रूयते हि किल आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गम् ॥ ३५ ॥

आख्यानों से अवगत होता है कि अपनी स्वच्छन्दता के लिये महादेवी मणिकुण्डला ने अपने पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त करने की अभिलाषा से यवनदेश में अङ्गराज का वध कर दिया था।)

(विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥ ३६ ॥

जहरीले आलते से रंगे हुए अपने अधरोष्ठ के द्वारा वसन्तमति ने मथुरा में सुरतविलास नाम के राजा को, विदिशा (भेलसा) में वृकोदरी ने विष से रंगी हुई मणि के द्वारा मदनार्णव को, मगध में मदिराक्षी ने तीक्ष्ण धार वाले दर्पण से मन्मथ विनोद को और पाण्ड्य देश में (तिनेवली, मद्रास) चन्द्ररसा ने केशपाश के भीतर छिपाई हुई तलवार अथवा छुरे से पुण्डरीक को मार डाला था।)

अमृतरसवाप्य इव क्रीडासुखोपकरणं स्त्रियः ॥ ३७ ॥

अमृत रस की बावली के समान स्त्रियाँ लक्ष्मी के विलास से सुलभ सुखों की साधन हैं। अतः—

कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥ ३८ ॥

वे क्या अच्छा काम करती हैं क्या बुरा काम करती हैं इसको देखने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् अमृत रस के समान आह्लादित करने वाली स्त्रियों के कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विवेचन व्यर्थ है। उनका सदुपयोग करना चाहिये।

स्त्री की स्वतन्त्रता के क्षेत्र—

(अपत्यपोषणे, गृहकर्मणि, शरीरसंस्कारे, शयनावसरे स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं नान्यत्र ॥ ३९ ॥

सन्तान पालन, गृहस्थी के दैनिक कार्यकलाप, शारीरिक शृंगार और पति के साथ शयन इन चार कार्यों में स्त्रियों को स्वतन्त्रता देनी चाहिए अन्यत्र नहीं।)

स्त्री के अतिस्वातन्त्र्य से दुष्परिणाम—

(अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥ ४० ॥

अत्यन्त आसक्त होकर स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का परिणाम यह होता है कि वे आरे के समान—पति के हृदय को विदीर्ण किये बिना विश्राम

नहीं लेतीं। अर्थात् स्त्री को अति स्वतन्त्र करने का परिणाम पति की मृत्यु है।

स्त्री वशवर्त्ती होने का कुफल—

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥ ४१ ॥

स्त्री के वश में पड़ा हुआ पुरुष नदी के प्रवाह में पड़े हुए वृक्ष के समान चिरकाल तक सुखी नहीं रहता।

जिस प्रकार नदी की धार में पड़ा हुआ पेड़ थोड़ी ही देर में उखड़ कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्त्री के अत्यन्त अधीन हुआ पुरुष शीघ्र नष्ट हो जाता है।

स्त्री को वशवर्त्तिनी बनाने का लाभ—

पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति ॥ ४२ ॥

तलवार की मूठ को हाथ में लेकर वीर पुरुष उसे चाहे जैसे चलाकर जिस प्रकार आनन्दित होता है उसी प्रकार स्त्री को अपनी मूठी में दबाकर अर्थात् अपने वश में रख कर कौन सा ऐसा आनन्द है जिसका उपयोग पुरुष नहीं कर सकता। अर्थात् सभी सुख प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-शिक्षा की नीति—

नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः, स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ॥ ४३ ॥

स्त्रियों को शास्त्र की अधिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए। स्वभावतः मनोरम भी शास्त्रोपदेश स्त्रियों को उसी प्रकार विनष्ट कर देता है जिस प्रकार छुरी या तलवार पर पड़ी हुई पानी की बूंद भी उसमें मोर्चा आदि लगाकर उसे नष्ट कर देती है।

वेश्या को द्रव्योपहार देने का क्रम—

अध्रुवेण साधिकोऽप्यर्थेन वेश्यामनुभवति ॥ ४४ ॥

अधिक धन वाला भी व्यक्ति अनिश्चित अर्थ-दान से वेश्या का उपभोग करे। अर्थात् उसके लिये कोई निश्चित द्रव्य राशि का प्रबन्ध न कर दे। उसे कभी थोड़ा कभी अधिक धन देता रहे इससे आशा-वश वेश्या की अनुरक्ति बनी रहती है अन्यथा निश्चित आय समझकर वह विरक्त होकर अनर्थ करने लगती है।

वेश्या सम्बन्धी कुछ उत्तम उपदेश—

विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥ ४५ ॥

वेश्या को नित्य घर पर बुलाना और भेजना--इस प्रकार से वेश्या का

उपभोग करने में महान् अनर्थ की संभावना है। इससे उसके अन्य प्रेमी ईर्ष्यालु होकर वधादि उपद्रव कर सकते हैं।

वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥ ४६ ॥

वेश्या पर अत्यन्त आसक्ति करने से किसके प्राण और अर्थ की हानि नहीं होती।

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषम् ॥ ४७ ॥

वेश्याएं धन का उपभोग करती हैं पुरुष का नहीं।

धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ४८ ॥

कामदेव के समान भी न्दर व्यक्ति यदि निर्धन होता है तो उस पर वेश्या का अनुराग नहीं होता।

स पुमानायतिसुखी यस्य सानुशयं वेश्यासु दानम् ॥ ४९ ॥

वेश्याओं को पैसा रुपया देते समय जिसके हृदय में मानसिक ग्लानि और अनुताप हुआ करता है वह मनुष्य अन्त में अर्थात् भविष्य में अत्यन्त सुख का अनुभव करता है। क्योंकि ऐसा आदमी अवश्य ही किसी न किसी दिन उससे विरक्त होकर सुखी होगा।

स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवतीं करोति वेश्याम् ॥५०॥

वह व्यक्ति पशु से भी बढ़कर है जो अपने धन से वेश्या को दूसरे के लिये धनाढ्य बनाता है। वेश्या का कोई निश्चित उत्तराधिकारी नहीं होता जिससे उसे प्राप्त प्रचुर धन को इधर उधर का नीच व्यक्ति ही प्राप्त करता है। इस स्थिति में यदि कोई व्यक्ति वेश्या को धन देता है तो वह पशु से भी बढ़कर अविवेकी है क्योंकि वह ऐसी जगह धन फेंक रहा है जहाँ से उसे कोई सहायता नहीं मिल सकती। अपनी पत्नी को दिया गया धन सङ्कट आ पड़ने पर सहायक होता है अथवा अन्य कामों में व्यय करने से यश आदि होता है पर वेश्या को दिया गया धन तो इहलोक परलोक दोनों को बिगाड़ने वाला है।

आचित्तविश्रान्तेर्वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥ ५१ ॥

वेश्या का सेवन चित्त की चञ्चलता मात्र दूर करने तक ही सीमित रखना चाहिए।

यहां आचार्य प्रवर का आशय यह है कि राजा को यदि कभी किसी कारणवश किसी वेश्या पर अनुरक्ति हो तो उससे समागम कर पुनः उसका त्याग देना ही कल्याणकर है।

सुरक्षितापि वेश्या स्वां प्रकृतिं न मुञ्चति ॥ ५२ ॥

प्रचुर धनधान्य से सन्तुष्टकर सुरक्षित होने पर भी वेश्या अपनी प्रकृति अर्थात् परपुरुष समागम की इच्छा नहीं छोड़ती ।

प्राणियों की प्रकृति की अपरिवर्त्तनीयता—

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्यते ॥ ५३ ॥

जिसकी जो प्रकृति सहज-स्वभाव होता है उसे विधाता भी नहीं दूर कर सकता ।

सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ॥ ५४ ॥

सुन्दर भोजन कराने पर भी क्या कुत्ता अपवित्र हड्डियों का खाना छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं ।

न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ॥ ५५ ॥

बहुत सिखाने पर भी बन्दर अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता ।

इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ॥ ५६ ॥

ईख के रस से भी सींची गई नीम कड़वी ही रहती है ।

निकट सजातीयों के सम्मान-असम्मान का विचार—

सन्मानादवसादो कुल्यानामपरिग्रहहेतुः ॥ ५७ ॥

कुल्य अर्थात् स्वजातीयों को अधिक सन्मान न देने से उनसे सम्बन्ध छूटता जाता है । अर्थात् उनका अधिक सन्मान और संग्रह नहीं करना चाहिए ।

तन्त्रकोशवर्द्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥ ५८ ॥

अपने दायादों अर्थात् कुटुम्बियों को उनका सैन्य और कोश बढ़ाने वाली जीविका प्रदान करने से उनके चित्त में विकार उत्पन्न होता है । अर्थात् अपना सैन्य बल और कोश बल बढ़ जाने पर अपना कुटुम्बी स्वयं राजा बन बैठने की घात सोचता है ।

भक्तिविश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥ ५९ ॥

किस प्रकार के कुटुम्बी अथवा पुत्र की शक्ति बढ़ानी चाहिए इस पर आचार्य प्रवर कहते हैं कि अपने प्रति जिसके दृढ़ अनुराग और भक्ति की पूर्ण प्रतीति निश्चित हो ऐसे दायाद अथवा पुत्र का विशेष सम्बर्द्धन करना चाहिए सबका नहीं ।

विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥ ६० ॥

पूर्वसूत्र में निर्दिष्ट दायाद को उसके अनुराग और भक्ति का परीक्षण करने के निमित्त उसे उचित कार्यों में नियुक्त करे ।

भर्त्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥ ६१ ॥

स्वामी के आदेश-पालन में किसी प्रकार का सोच-विचार न करे ।

अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥ ६२ ॥

स्वामी का आदेश बिना संशय करने को तत्पर अवश्य रहे किन्तु तीन बातों का विचार तो कर ही ले कि उससे, अपना प्राण तो संकट में नहीं पड़ रहा है, जनता का विरोध तो नहीं मिल रहा है तथा कोई पाप तो नहीं बन पड़ रहा है।

बलवान् सजातीयों के प्रति राजा का कर्त्तव्य—

बलवत्-पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः प्रणिधिर्वा ॥ ६३ ॥

किसी कारण-वश बलवान् बन बैठे हुए दायादों को वश में करने के लिये उनके पास आप्त पुरुषों को भेजकर अपने में विश्वास उत्पन्न कराना चाहिए अथवा अपना गुप्तचर भेजकर उनका रहस्य अवगत करते रहना चाहिए कि वह राज्य विनाश का कोई षड्यन्त्र तो नहीं कर रहे हैं।

दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग् युक्तिभिर्दुरभिनिबेशमुत्तार-येत् ॥ ६४ ॥

किसी दुराग्रहपूर्ण कार्य करने के लिये तुले हुए पुत्र और दायाद को युक्ति के साथ समझा-बुझा कर उसका दुराग्रह दूर करना चाहिए।

उपकारी सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार आवश्यक—

साधुषूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्तादंगाराकर्षणमिव ॥६५॥

उपकारक साधु-पुरुषों के प्रति दुर्व्यवहार करना अपने ही हाथों आग का अङ्गारा खींचने के समान है।

सन्तति के शुभाशुभ का विचार—

क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार क्षेत्र और बीज यदि बुरे हों तो खेती विनष्ट होती है उसी प्रकार क्षेत्र और बीज तुल्य माता-पिता में विकृति होने से सन्तान में भी विकृति होती है।

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसर-स्वत्यावाहनमन्त्रयुतपरमान्नोपयोगश्च पुरुषोत्तममवतारयन्ति ॥ ६७ ॥

साधारण गृहस्थ के यहाँ महापुरुष किस प्रकार जन्म ग्रहण करते हैं इसका उपक्रम करते हुए आचार्य प्रवर कहते हैं।

माता-पिता दोनों शुद्धवंश के हों, उनमें परस्पर प्रेम हो, मन में प्रसन्नता हो, गोधूलि आदि निषिद्ध समय न हो, लक्ष्मी और सरस्वती के सूक्तों से अभिमन्त्रित सात्त्विक अन्न का भोजन किया गया हो—इतने कारणों से घर में पुरुषोत्तम अवतार ग्रहण करते हैं।

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥ ६८ ॥

गर्भकाल सुखमय व्यतीत हुआ हो अर्थात् गर्भ की दशा में माता के दिन सुख से बीते हों, उसे कोई रोग आदि न हुआ हो और बालक का जन्म हो जाने पर उसका जन्म संस्कार आदि शास्त्रीय ढंग से हुआ हो ये दो बातें बालक के शारीरिक बल और आत्मबल की प्राप्ति के उत्कृष्ट कारण हैं। यदि गर्भसम्बन्धी कोई उपद्रव न हुआ हो और उत्पन्न बालक का समुचित संस्कार एवं शिक्षा की सुव्यवस्था हो तो अवश्य ही उत्पन्न बालक शरीर से हृष्ट-पुष्ट और मन से 'महामना' होगा।

राज्याधिकार प्राप्ति के योग्य व्यक्ति—

स्वजाति-योग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥ ६९ ॥

अपनी जाति के योग्य जिनका संस्कार न हुआ हो ऐसे व्यक्ति राज्य और संन्यास-दीक्षा पाने के अधिकारी नहीं है।

असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७०॥

दूसरा कोई योग्य राज्याधिकारी न होने पर अङ्गहीन व्यक्ति भी पिता के पद का अधिकारी तब तक के लिये होता है जब तक कि उसे पुत्र न उत्पन्न हो जाय।

राजपुत्रों को विनय और शील की शिक्षा देना आवश्यक—

साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥ ७१ ॥

सत्पुरुषों द्वारा विनय और शील की शिक्षा पाये हुए राजकुमारों से वंश और राज्य की वृद्धि दूषित नहीं होती अर्थात् वंश का गौरव और राज्य का वैभव बढ़ता है।

घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राज्यमभियुक्तमात्रं भज्येत् ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार लकड़ी के कीड़े घुन से खाई गई लकड़ी कहीं लगाते ही टूट जाती है उसी प्रकार अविनयपूर्ण राजपुत्र के राज्यभार ग्रहण करते ही राज्य विनष्ट हो जाता है।

विनीत राजपुत्रों का फल—

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरौ नाभिद्रुह्यन्ति ॥ ७३ ॥

आप्त और विद्यावृद्ध पुरुषों द्वारा विनीत बनाये गये तथा सुखपूर्वक पालित पोषित राजकुमार अपने पिता माता से द्रोह नहीं करते।

राजपुत्र का कर्त्तव्य—

मातापितरौ राजपुत्राणां परमं दैवतम् ॥ ७४ ॥

राजकुमारों के लिये माता और पिता उत्कृष्ट देवता हैं।

यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥ ७५ ॥

जिनकी कृपा से उनको अपना शरीर मिलता है और राज्य प्राप्ति होती है।

मातापित्रोर्मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥ ७६ ॥

माता और पिता का मन से भी अपमान करने पर आती हुई भी लक्ष्मी विमुख हो जाती है।

किन्तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ७७ ॥

लोकनिन्दा से दूषित राज्य से क्या लाभ ?

क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लङ्घयेत् ॥ ७८ ॥

किसी भी कार्य में पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन न करे।

किन्नु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनम् आविवेश ॥ ७९ ॥

क्या रामचन्द्र पौरुष और पराक्रम से शून्य थे जो पिता की आज्ञा से वन को चले गये ?

यः खलु पुत्रो मनीषितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्त्तव्यः ॥ ८० ॥

जो पुत्र देवताओं से प्रार्थना आदि करके प्राप्त किया गया है उसका अपकार कैसे किया जा सकता है। पिता पुत्र प्राप्ति के लिये देवी देवताओं का पूजन करता है, व्रत आदि करता है ऐसे पुत्र पर उसका हार्दिक स्नेह रहता है वह कदापि पुत्र के अपकार की बात नहीं सोच सकता अतः पुत्र को अपने मन में कभी ऐसा विचार भी न लाना चाहिए कि पिताजी हमारा अपकार चाहते हैं।

कर्त्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्-विधानम् आत्मनो न भवेत् ॥ ८१ ॥

किसी का वध आदि अशुभ कर्म भी राजा राज्य की कल्याण-दृष्टि से कर सकता है यदि बाद में वही आपत्ति अपने ऊपर भी न आने की संभावना हो।

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राज्यभारः ॥ ८२ ॥

वे राजपुत्र सुखी हैं जिनके पिता के ऊपर राज्य भार है। राज्य का भार कोई सुखकर कार्य नहीं है अनेक चिन्ताओं से मनुष्य घिरा रहता है अतः पिता राज्य संभालें और पुत्र आनन्द करे यह अच्छा है।

अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासङ्गपरम्पराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥ ८३ ॥

उस राज्यलक्ष्मी से क्या लाभ जो थोड़ा सुख देकर सैकड़ों चिन्ताओं से ग्रस्तकर दुःख भोग कराती है।

निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥ ८४ ॥

बिना प्रयोजन किसी कार्य का प्रारम्भ करने से किसी को भी परिणाम में सुख नहीं मिलता।

परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत् क्षेत्रम् ॥ ८५ ॥

पराया खेत स्वयं जोतने अथवा दूसरे से जुतवाने पर भी फल का भागी तो वही होगा जिसका वह खेत होगा।

राज्य के क्रमानुसार अधिकारी—

सुत-सोदर-सपत्न-पितृव्य-कुल्य-दौहित्र-आगन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः ॥ ८६ ॥

पुत्र, सहोदर भ्राता, सौतेला सम्बन्धी, चाचा, अपने कुल का कोई व्यक्ति, नाती (लड़की का लड़का) और इधर-उधर से आकर रह गया व्यक्ति इन सब में क्रमशः पूर्व-पूर्व का अभाव होने पर उत्तर के व्यक्ति को राज्यपद प्राप्त होता है।

जो कोई दुष्कर्म कर चुका हो कर रहा हो अथवा करनेवाला हो तो उसमें निम्न चिह्न पाये जाते हैं।

शुष्कश्याममुखता, वाक्स्तम्भः, स्वेदो, विजृम्भणम्, अतिमात्रं वेपथुः, प्रस्खलनम्, आस्यप्रेक्षणम्, आवेगः कर्मणि भूमौ वाऽनवस्थानमिति दुष्कृतं कृतवतः, कुर्वतः करिष्यतो वा लिङ्गानि ॥ ८७ ॥

मुंह का सूखना और बिवर्ण हो जाना, अर्थात् म्लान होकर रङ्ग उतर जाना, वाणी का अवरुद्ध हो जाना, पसीना छूटना, जमुहाई आना, शरीर में बहुत ज्यादा कंपकंपी पैदा हो जाना, लड़खड़ाना, एकटक होकर मुंह देखते रह जाना, काम में घबड़ाहट और शीघ्रता करना, पृथ्वी पर बैठ न सकना अर्थात् स्थिर न होकर टहलते रहना।

[इति राजरक्षासमुद्देशः]

---

२५. दिवसानुष्ठानसमुद्देश

इस समुद्देश में आचार्यप्रवर ने मानव जीवन को सुखमय बनाने वाली सुन्दर दिनचर्या का विस्तृत वर्णन किया है अतः यह समुद्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थायेतिकर्त्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥ १ ॥

प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर एकाग्रचित्त से अपने कर्त्तव्य कर्म का चिन्तन करे।

सुखनिद्राप्रसन्ने मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिका बुद्धयः ॥ २ ॥

उस समय सुख-पूर्वक निद्रा से प्रसन्न चित्त में सद्विचार प्रतिबिम्बित होते हैं।

उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥ ३ ॥

सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोने वालों का धार्मिक कृत्यों का समय निकल जाता है।

आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥ ४ ॥

प्रातः काल उठकर अपना मुख घृत अथवा दर्पण में देखे।

न प्रातर्वर्षवरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ॥ ५ ॥

प्रातः काल नपुंसक और अङ्गहीनों का दर्शन न करे।

सन्ध्यास्वधौतमुखपादं ज्येष्ठा देवता नानुगृह्णाति ॥ ६ ॥

सूर्योदय और सूर्यास्त की सन्धि वेला में जिसका मुख और पैर प्रक्षालित नहीं होता उस पर महान् देवता अनुग्रह नहीं करते।

नित्यम् अदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥ ७ ॥

नित्य दन्त धावन न करने वाले का मुख अशुद्ध रहता है अर्थात् स्वच्छ न होने के कारण उससे दुर्गन्ध आता है।

न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥ ८ ॥

कार्यों में आसक्त होकर शारीरिक कर्मों का परित्याग न करे।

न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानम् ॥ ९ ॥

समुद्र की तरङ्गें युग-युग से भी शान्त हो गई हों तब भी उसमें स्नान नहीं करना चाहिए।

वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान - भोजन - स्वच्छन्दवृत्ति कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥ १० ॥

मल-मूत्र आदि के परित्याग का वेग, व्यायाम, शयन, स्नान, भोजन और स्वच्छन्द रूप से घूमने आदि के नियत समय का अतिक्रमण न करे।

शुक्र-मल-मूत्र-मरुद्वेगसंरोधोऽश्मरीभगन्दरगुल्मार्शसां हेतुः ॥११॥

शुक्र, मल, मूत्र और अपानवायु के वेग को रोकने से पथरी, भगन्दर, गुल्म और बवासीर रोग होते है।

गन्धलेपावसानं शौचम् आचरेत् ॥ १२ ॥

शरीर या उसके अङ्ग में लगा हुआ किसी वस्तु का गन्ध और लेप जब तक छूट न जाय तब तक शुद्धि अर्थात् पानी से धोने आदि की क्रिया करनी चाहिए।

बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत् ॥ १३ ॥

बाहर से घूम-घामकर आने पर बिना कुल्ला किये घर में न प्रविष्ट हो।

गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥१४॥

जिनका शरीर रोगादि के कारण क्षीण न हुआ हो, जिनको अजीर्ण का रोग न हो, जो वृद्ध न हों, जिनको गठिया आदि वायु का रोग न हो और जिनको रूखा-सूखा भोजन नहीं किन्तु स्निग्ध और पौष्टिक भोजन मिलता हो उन लोगों के द्वारा प्रातःकाल जब कि गायें जंगल में चरने के लिए खोली जाती हैं अर्थात् गोधूलि में व्यायाम करना रसायन सेवन के समान महान् गुणकारी होता है।

शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥ १५ ॥

जिससे शरीर को परिश्रम हो उस क्रिया का नाम व्यायाम है।

शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥ १६ ॥

गदा, लाठी तलवार आदि चलाकर तथा घोड़े आदि की सवारी का अभ्यास कर व्यायाम को सफल बनावे। अर्थात् व्यायाम दण्ड-बैठक आदि के साथ इनको भी करता रहे।

आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥ १७ ॥

आचार्यों ने व्यायाम करने की अवधि पसीना निकलने लगने तक कही है।

बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥ १८ ॥

शक्ति से अधिक व्यायाम करने से कौन सी ऐसी आपत्ति है जो नहीं उत्पन्न होती अर्थात् शक्ति से अधिक व्यायाम अनेक व्याधियों का घर होता है।

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यञ्च ॥ १९ ॥

जिसका व्यायाम करने का स्वभाव नहीं है उसकी जठराग्नि किस प्रकार दीप्त रह सकती है और उत्साह तथा देह की पुष्टता भी उसे कैसे प्राप्त हो सकती है?

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥ २० ॥

इन्द्रियाँ, आत्मा, मन और प्राण-वायु का सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हो जाना अर्थात् मन्दशक्ति हो जाना शयन है।

यथासात्म्यं स्वापाद् भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥

प्रकृति के अनुकूल पूर्ण निद्रा होने से खाया हुआ अन्न पच जाता है और समस्त इन्द्रियां प्रसन्न हो जाती हैं।

अघटितमपिहितं च भाजनं न साधयत्यन्नानि ॥ २२ ॥

टूटे और बिना ढके हुए पात्र में अन्न नहीं पकता। इसका आशय यह है कि शरीर यदि श्रम से चूर-चूर हो रहा हो और निद्रा से उसकी सुरक्षा न की जाय तो अन्न का परिपाक नहीं होगा।

प्रथमं नित्यस्नानं, द्वितीयकमुत्सादनं, तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥ २३ ॥

प्रथम नित्यस्नान, द्वितीय सुगन्धित तैल का अथवा उबटन का शरीर में मर्दन, तृतीय आयुवर्धक सात्विक और पौष्टिक पदार्थों का सेवन, चतुर्थ मल-मूत्रादि का समय से विसर्जन आदि में नागा न करे।

धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥ २४ ॥

धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान, उत्साहपूर्वक अर्थोपार्जन, प्रसन्नतापूर्वक काम-चेष्टाओं में प्रवृत्ति, शरीरशुद्धि और दुर्जनों के स्पर्शमात्र से उत्पन्न दोषों को दूर करना इन कारणों से स्नान किया जाता है।

श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥ २५ ॥

थकावट, पसीना और आलस्य का दूर हो जाना स्नान का फल है।

जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥ २६ ॥

स्नान के अनन्तर यदि देवता, गुरु और स्वधर्म सम्बन्धी कोई उपासना न की जाय तो वह स्नान जल में रहनेवाले जीव मत्स्य मगर आदि के स्नान के समान व्यर्थ है।

प्रादुर्भवत् क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात् ॥ २७ ॥

जब भूख और प्यास प्रतीत हो तब मनुष्य को समस्त अङ्ग में तैल मर्दन करने के अनन्तर स्नान करना चाहिए। आचार्य प्रवर का आशय है कि जब भूख और प्यास मालूम पड़ने लगे तब स्नान का समय जानकर तैल मर्दन करने के अनन्तर स्नान करे।

आतपसंतप्तस्य जलावगाहो दृङ्मान्द्यं शिरोव्यथां च जनयति ॥२८॥

सूर्य के आतप से संतप्त व्यक्ति यदि तुरन्त, बिना विश्राम किये ही स्नान करता है तो उसकी दृष्टि मन्द पड़ जाती है और शिर में पीड़ा होती है।

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥ २९ ॥

भोजन का उचित समय वही है जब कि मनुष्य को भूख लगे।

अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तञ्च भवति विषम् ॥ ३० ॥

बिना भूख के खाया गया अमृत भी विष हो जाता है।

जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ वज्रकं वलयेत् ॥ ३१ ॥

जठराग्नि को कठोर से कठोर वस्तु को पचा डालनेवाली बनाने की दृष्टि से भोजन से पूर्व गदा मुद्गर आदि घुमावे।

निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यम् अग्निं नाशयति ॥ ३२ ॥

भोजन के समय बिना अन्न के केवल घी, दूध अथवा चाय, शरबत मात्र पीने से जठराग्नि नष्ट हो जाती है।

अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥ ३३ ॥

अत्यन्त श्रम करने के अनन्तर बारम्बार लगने वाली प्यास की शान्ति के लिये मण्डपान (चावल का माड़ पीना) सर्वोत्तम है।

घृताधारोत्तरं भुञ्जानोऽग्निं दृष्टिञ्च लभते ॥ ३४ ॥

घृत खाने के अनन्तर भोजन करने से मनुष्य की जठराग्नि दीप्त होती है और दृष्टि अर्थात् नेत्र की ज्योति बढ़ती है।

सकृद् भूरिनीरोपयोगो वह्निम् अवसादयति ॥ ३५ ॥

एक बार ही बहुत जल पी लेने से जठराग्नि नष्ट हो जाती है।

क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥ ३६ ॥

भूख लगने पर भोजन न करने से अन्न से अरुचि हो जाती है और देह में शिथिलता आती है।

विध्मापिते वह्नौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

अग्नि बुझ कर जब राख हो जाय तब उसमें ईंधन क्या करेगा ? मनुष्य को जब खूब भूख लगी हो तब वह यदि भोजन नहीं करता तो उसकी जठराग्नि शान्त हो जाती है। अनन्तर भोजन करने से वह नहीं पचता।

यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते ॥ ३८ ॥

जो थोड़ा खाता है वह बहुत खाता है। अर्थात् स्वल्प भोजन सदा सुख कर और दीर्घायु दाता होता है।

अप्रमितम् , असुखं, विरुद्धम् , अपरीक्षितम् , असाधुपाकम् , अतीतरसम् , अकालं चान्नं नानुभवेत् ॥ ३९ ॥

बिना मात्रा का, अहित कर, अपनी प्रकृति के प्रतिकूल, बिना परीक्षा

किया गया, ठीक से न पका हुआ, नीरस, और असमय का भोजन न करे।

फल्गुभुजम्, अननुकूलम्, क्षुधितम्, अतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥ ४० ॥

भोजन के समय तुच्छ पदार्थ खाने वाले कुत्ता, सूअर आदि अपने प्रतिकूल व्यक्ति अर्थात् शत्रु भाव रखने वाले मनुष्य, भूखे, और अत्यन्त क्रूर व्यक्ति को अपने पास न बैठावे।

गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥ ४१ ॥

साथ बैठ कर खाने वाले जब ग्रास उठा लें तब अपने लिये भोजन परसे। आचार्य प्रवर का आशय यह प्रतीत होता है कि जब कुछ लोगों को अपने यहां साथ में भोजन करने के लिये बुलावे तब शिष्टता की दृष्टि से यह उचित है कि अभ्यागत लोग जब खाना प्रारम्भ कर दें तब स्वयम् अपनी थाली मंगावे या भोजन करना प्रारम्भ करे।

तथा भुञ्जीत यथा सायम् अन्येद्युश्च न विपद्यते वह्निः ॥ ४२ ॥

भोजन ऐसा करे जिससे सायंकाल अथवा दूसरे दिन पुनः भूख लगे। अर्थात् इतना अधिक भोजन न करे कि शाम को अथवा दूसरे दिन भूख ही न लगे।

न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ॥ ४३ ॥

भोजन की मात्रा के विषय में कोई सिद्धान्त नहीं है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति कितना भोजन करे इसका कोई सिद्धान्त नहीं है।

वह्न्यभिलाषायत्तं हि भोजनम् ॥ ४४ ॥

भोजन अग्नि की अभिलाषा के अधीन है। अर्थात् जितनी भूख हो उतना भोजन करे।

अतिमात्रभोजी देहमग्निञ्च विधुरयति ॥ ४५ ॥

अधिक मात्रा में भोजन करनेवाला व्यक्ति अपनी देह और जठराग्नि का विनाश कर देता है।

दीप्तो वह्निर्लघुभोजनाद् बलं क्षपयति ॥ ४६ ॥

प्रदीप्त अग्नि में थोड़ा भोजन करने से बल का ह्रास होता है। अर्थात् जिसकी खुराक बहुत हो उसे यदि कम भोजन मिलेगा तो उसका बल घट जायगा।

अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥ ४७ ॥

बहुत खाने वाले का भोजन कठिनता से पचता है।

श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥ ४८ ॥

अत्यन्त थका हुआ व्यक्ति यदि विश्राम किये बिना भोजन या जलपान करता है तो उससे उसे ज्वर या वमन होता है।

न जिहत्सुर्न प्रस्त्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥ ४६ ॥

जब मल और मूत्र त्याग की इच्छा हो मन आकुल हो और अत्यधिक प्यास लगी हो तब मल-मूत्र त्याग किये बिना और मन को शान्त तथा प्यास को दूर किये बिना भोजन न करे।

भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो विपत्तिकारणम् ॥ ५० ॥

भोजन के अनन्तर शीघ्र ही व्यायाम और मैथुन करने से तत्काल आपत्ति अर्थात् व्याधि उत्पन्न होती है।

आजन्मसात्म्यं विषमपि पथ्यम् ॥ ५१ ॥

जन्मकाल से ही जो भोज्य अपनी प्रकृति के अनुकूल हो गया हो वह विष भी पथ्य होता है।

असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यम् ॥ ५२ ॥

प्रकृति के अनुकूल न भी हो किन्तु पथ्य हो तो उसका सेवन करना चाहिए, किन्तु प्रकृति के अनुकूल पड़ने पर भी अपथ्य पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए।

सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूट सेवेत ॥ ५३ ॥

बलशाली के लिये सब कुछ पथ्य ही है ऐसा समझकर कालकूट अर्थात् जहर न खावे।

सुशिक्षितोऽपि विषतन्त्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद् विषात् ॥ ५४ ॥

विषशास्त्र को जानने वाला सुशिक्षित भी व्यक्ति कभी विष से ही मर जाता है।

संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥ ५५ ॥

भोज्य पदार्थ को अतिथियों और आश्रितों को बांट कर तब स्वयं भोजन करे।

देवान् गुरून् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥ ५६ ॥

देवता गुरु और धर्म की सेवा के समय चित्त को अशान्त न रक्खे।

व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥ ५७ ॥

चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने वाले स्थान पर बैठकर मन का निरोध करने से समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं।

स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ॥ ५८ ॥

स्वच्छन्दता-पूर्वक जीवन निर्वाह करना मनुष्य के लिये उत्कृष्ट रसायन है।

रसायनों का सेवन करने से मनुष्य का बुढ़ापा और रोग दूर होकर सुन्दर स्वास्थ्य बना रहता है इसी तरह स्वतन्त्र रहने पर भी मनुष्य स्वस्थ रहता है।

यथाकामं समीहमानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥ ५९ ॥

जङ्गलों में स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाले हाथी रोगी नहीं होते।

सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापस्ताम्बूलभक्षणञ्च ॥ ६० ॥

निरन्तर सेवित दो ही वस्तुएं सुखोत्पादक होती हैं स्वच्छन्दभाव से सरस संलाप और ताम्बूल का भक्षण।

चिरायोर्ध्वजानुर्जडयति रसवाहिनीः स्नसाः ॥ ६१ ॥

चिरकाल पर्यन्त घुटनों को उठाकर बैठने से रसवाहिनी नसें जकड़ जाती हैं।

सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति, प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥ ६२ ॥

निरन्तर बैठे रहने से जठराग्नि मन्द हो जाती है और वाणी, मन तथा शरीर स्थूल हो जाते हैं।

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त शोक से बिना समय के ही पुरुष को वृद्धावस्था आ जाती है।

नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

मनुष्य अपने देहरूपी प्रासाद को देवता से शून्य न रक्खे। अर्थात् मन से ईश्वरभक्ति करे।

देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति प्रत्ययः ॥ ६५ ॥

जिस पुरुष में देवता की भक्ति, गुरु के प्रति श्रद्धा और धर्म के भाव नहीं वर्तमान हैं वह विश्वासयोग्य नहीं है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥ ६६ ॥

दुःख, कर्मभोग और ईर्ष्या द्वेष से शून्य पुरुष-विशेष देव हैं।

तस्यैवैतानि खलु विशेषनामानि अर्हन्नजोऽनन्तः शम्भुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥ ६७ ॥

देवसंज्ञक उसी पुरुष विशेष के अर्हन्, अज, अनन्त, शम्भु, बुद्ध और तमोऽन्तक (अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करने वाला) यह सब नाम हैं।

आत्मसुखानुरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥ ६८ ॥

में सुखपूर्वक कार्य कर सकूं इस दृष्टि से अपने विभिन्न कार्यों के निमित्त रात और दिन का निश्चित समय विभाग बना ले।

कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमम् ॥ ६९ ॥

समय का कोई नियम न रखकर कार्य करना मरण तुल्य होता है।

आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः ॥ ७० ॥

अत्यन्त कल्याणकारी अर्थात् धार्मिक कार्यों के लिये कोई नियत समय नहीं है।

अवश्यं कर्त्तव्ये कालं न यापयेत् ॥ ७१ ॥

जो कार्य निश्चित रूप से करना ही हो उसमें समय का अतिक्रमण न होने दे।

आत्मरक्षायां कदापि न प्रमाद्येत ॥ ७२ ॥

आत्मरक्षा के कार्यों में कभी भी असावधानी न करे।

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात् ॥ ७३ ॥

धर्मोपासना के निमित्त प्रस्थान करने से पूर्व बछड़े सहित गौ की प्रदक्षिणा कर ले।

अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥ ७४ ॥

अनधिकृत रूप से तथा बिना आज्ञा प्राप्त किये हुए राजसभा में प्रवेश न करे।

आराध्यमुत्थायाभिवादयेत् ॥ ७५ ॥

आराध्य पुरुष की वन्दना खड़ा होकर करे बैठे बैठे नहीं।

देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥ ७६ ॥

देवता, गुरु और धर्म-सम्बन्धी कार्यों को स्वयं देखे।

कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सह न संगच्छेत् ॥ ७७ ॥

छल-कपट और धोखा धड़ी का काम करने वालों एवम् मारण-मोहन आदि का कार्य करने वालों की संगति न करे।

प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्त्तयेत् ॥ ७८ ॥

प्राणियों की हिंसा करके काम क्रीड़ा में न प्रवृत्त हो।

जनन्यादिपरस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥ ७९ ॥

सम्बन्ध में माता भी लगने वाली पराई स्त्री के साथ एकान्त में न बैठे।

नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥ ८० ॥

अत्यन्त क्रोध की दशा में भी पूज्य पुरुषों की आज्ञा का उल्लङ्घन और अपमान न करे।

नाप्ताशोधितं परस्थानमुपेयात् ॥ ८१ ॥

अपने प्रामाणिक व्यक्तियों के द्वारा परीक्षण कराये बिना शत्रु के स्थान पर न जाय।

नाप्तजनैरनारूढं वाहनमध्यासीत ॥ ८२ ॥

प्रामाणिक व्यक्ति जिन पर न बैठ चुके हों ऐसी सवारी पर भी न बैठे।

न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥ ८३ ॥

अपने आदमियों से परीक्षण कराये बिना देवस्थान आदि तीर्थ अथवा यात्री-दल और तपस्वी के पास न जाय।

न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥ ८४ ॥

दण्डधारियों से अपरीक्षित मार्ग पर न जाय।

न विषापहारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत ॥ ८५ ॥

विष दूर करनेवाली औषधि और मणि का सेवन क्षणभर के लिये भी न करे।

मन्त्रिभिषङ्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥ ८६ ॥

मन्त्री, ज्योतिषी और वैद्य के बिना कभी भी न रहे।

वह्नावन्यचक्षुषि च भोग्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥ ८७ ॥

अपने भोग और उपभोग की वस्तुओं का परीक्षण अग्नि के द्वारा अथवा अन्य व्यक्ति की दृष्टि से कराले।

अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ॥ ८८ ॥

अपने सब काम सदा 'अमृतसिद्धि' योग में करे।

भक्ति-सुरत-समरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥ ८९ ॥

भक्ति कार्य, कामभोग और संग्राम दक्षिण पवन के बहने पर अर्थात् वसन्तऋतु में करे।

परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥ ९० ॥

परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेनेवाले से कोई भी द्वेष नहीं करता।

मनः-परिजन-शकुन-पवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेः लिङ्गम् ॥ ९१ ॥

मन और नौकर-चाकरों का प्रसन्न होना, अच्छे शकुनों का होना तथा अनुकूल वायु का चलना भावी कार्यसिद्धि के लक्षण हैं।

नैको नक्तं दिवं हिण्डेत ॥ ९२ ॥

रात-दिन अकेला ही न भ्रमण करे।

निर्यमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥ ६३ ॥

मन, वाणी और शरीर के संयम के साथ प्रस्थान करे।

अहनि सन्ध्यामुपासीतानक्षत्रदर्शनात् ॥ ६४ ॥

प्रतिदिन नक्षत्र-दर्शनपर्यन्त सन्ध्यावन्दन करे।

चतुः पयोधिपयोधराम्, धर्मवत्सवतीम्, उत्साहबालधिम्, वर्णाश्रमखुरां, कामार्थश्रवणां, नयप्रतापविषाणां, सत्यशौचचक्षुषं, न्यायमुखीम्–इमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसाऽपि न सहेयं योऽपराध्येत्तस्यै, इतीयं मन्त्रं समाधिस्थो जपेत् ॥ ६५ ॥

राजा को चाहिये कि वह एकाग्रचित्त होकर निम्नाङ्कित अर्थ के उपर्युक्त मन्त्र का जप करे।

चतुर्दिक् के चार समुद्र जिसके चार थन हैं, धर्म जिसका बछड़ा है, उत्साह जिसकी पूंछ है, चार वर्ण और चार आश्रम जिसके खुर हैं, काम और अर्थ जिसके कान हैं, नीति और प्रताप जिसकी सींगें हैं, सत्य और शौच जिसकी आंखें हैं और न्याय जिसका मुख है—ऐसी इस गौ रूप पृथ्वी की मैं रक्षा करता हूं। अतः जो कोई इस पृथ्वी के प्रति कोई अपराध करेगा उसको मैं मनसे भी नहीं सहन करूँगा।

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥ ६६ ॥

चकवा-चकवी के समान दिन में काम-भोग चाहनेवाला व्यक्ति रात्रि में स्निग्ध पदार्थों का भोजन करे।

चकोरवन्नक्तंकामो दिवा च ॥ ६७ ॥

चकोर पक्षी के समान रात्रि में मैथुन-कर्म में प्रवृत्त होने का इच्छुक व्यक्ति दिन में स्निग्ध पदार्थों का भोजन करे।

पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥ ६८ ॥

कबूतर के समान अति कामी पुरुष वीर्यवर्धक व्यञ्जन (पूड़ी, हलवा, मालपुआ, खीर) आदि का सेवन करे।

वष्कयणीनां सुरभीणां पयः सिद्धं माषदलपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्द्धने ॥ ६६ ॥

ज्यादा दिनों की व्याई हुई गायों के दूध में पकाई उड़द के दाल की खीर काम-शक्ति के संवर्द्धन के लिये सर्वोत्तम योग है।

नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥ १०० ॥

कामेच्छा से हीन स्त्री के साथ संभोग न करे।

उत्तरः प्रवर्षवान् प्रदेशः परमरहस्यमनुरागे प्रथमप्रकृतीनाम् ॥१०१॥

कामशास्त्र के अनुसार प्रथम प्रकृति अर्थात् वृष जाति के पुरुष और

पद्मिनी जाति की स्त्री के लिये उत्तर दिशा का प्रचुर वर्षा वाला प्रदेश विशेष रूप से अनुराग क्रीड़ा में सहायक होता है। अर्थात् प्रथम प्रकृति के नवदम्पति को उत्तर दिशा वाले वर्षायुक्त प्रदेशों में काम-क्रीडा में विशेष आनन्द का अनुभव होता है।

द्वितीयप्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥ १०२ ॥

इसी प्रकार द्वितीय प्रकृति अर्थात् शशजाति के पुरुष और शंखिनी जाति की स्त्री के लिये हरियाली से सुशोभित मनोरम उपवन, बाग, हराभरा जंगल आदि विशेष आनन्ददायक होता है।

तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥ १०३ ॥

इसी प्रकार तृतीय प्रकृति अर्थात् अश्व प्रकृति का पुरुष रतिकर्म में अत्यन्त आह्लादकर होता है।

स्त्रीपुंसयोर्न सम-समायोगात् परं वशीकरणमस्ति ॥ १०४ ॥

परस्पर समान प्रकृति के संयोग से बढ़कर अन्य कोई उपाय स्त्री और पुरुष के वशीकरण के लिये नहीं है।

प्रकृतिरूपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति सम-समायोग-कारणानि ॥ १०५ ॥

समान प्रवृत्ति का होना, कामशास्त्र का समुचित शिक्षण और स्वाभाविक व्यवहार चातुर्य ये सब संयोग के हेतु हैं।

क्षुत्तर्ष-पुरीषाभिष्यन्दार्त्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥ १०६ ॥

भूख प्यास और मल-मूत्र के वेग से पीड़ित स्त्री पुरुषों के संयोग से उत्तम सन्तान नहीं होती।

न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥ १०७ ॥

सन्ध्याकाल, दिन और जल तथा देवमन्दिर में मैथुन न करे।

पर्वणि पर्वणि सन्धौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ॥ १०८ ॥

अमावास्या-पूर्णिमा आदि पर्व, प्रातः सायं की सन्धि वेला और ग्रहण वाले दिन में कुल-स्त्री अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री के साथ समागम न करे।

न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥ १०९ ॥

किसी पराई स्त्री के घर जाकर उसके साथ शयन न करे।

वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा न विडम्बयति ॥ ११० ॥

वंश, अवस्था, सदाचार, विद्या और अपने ऐश्वर्य के अनुरूप वेष-भूषा रखने तथा व्यवहार करने से किसी की कोई विडम्बना निन्दा आदि नहीं होती।

अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किञ्चित् प्रवेशयेन्निष्कासयेद् वा ॥ १११ ॥

बिना परीक्षा और शोध के कोई भी वस्तु या व्यक्ति का राजकुल में प्रवेश और निष्कासन नहीं होने देना चाहिए।

श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पल्लवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेष-विषाण-निहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥ ११२ ॥

सुनने में आता है कि कुन्तलनरेश के द्वारा प्रेषित स्त्रीवेषधारी किसी गुप्त पुरुष ने कान के साथ छिपाई हुई तलवार या छुरे से पल्लवदेश के राजा को मार डाला और हयपति ने भेड़े की सींग के भीतर छिपाये हुए विष के प्रयोग से कुशस्थलेश्वर (द्वारकाधीश) को मार डाला।

सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित् क्रिया ॥ ११३ ॥

सर्वत्र अविश्वास ही रखने से कोई भी काय नहीं हो सकता।

[इति दिवसानुष्ठानसमुद्देशः]

---

२६. सदाचार समुद्देशः

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्च्यते वा ॥ १ ॥

बृहस्पति के समान बुद्धिमान् पुरुष भी लोभ, असावधानी और विश्वास के कारण मारा जाता है अथवा वञ्चित होता है।

बलवताधिष्ठितस्य गमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयान् अन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥ २ ॥

अपने से बलशाली के द्वारा आक्रान्त होने पर देशत्याग कर अन्यत्र चले जाना अथवा उससे सन्धि कर लेना ही कल्याणकर है। इससे अतिरिक्त कोई दूसरा कल्याणकारी उपाय नहीं है।

विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः को नाम ? येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥ ३ ॥

परदेशगमन रूप दुर्भाग्य से पीड़ित व्यक्ति का अपनी योग्यता और महत्ता आदि के परिचय का पुरुषार्थ व्यर्थ होता है क्योंकि जो जिसके स्वरूप अर्थात् योग्यता और विद्या आदि से परिचित नहीं है उस व्यक्ति की दृष्टि में महान् भी व्यक्ति क्षुद्र ही प्रतीत होता है।

अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥ ४ ॥

जिसने स्वयम् उद्योग करके किसी प्रकार की प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की वह यदि अपने उच्च वंश में जन्म लेने के अहंकार का प्रदर्शन करता है तो सबकी अप्रतिष्ठा का पात्र होता है।

आर्त्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥ ५ ॥

दुखी होने पर सभी व्यक्ति धार्मिकविचार वाले बन जाते हैं।

स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥ ६ ॥

नीरोग वह व्यक्ति है जो बिना किसी कारण के ही धर्म-बुद्धि वाला हो।

व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥ ७ ॥

व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के लिये धैर्य के अतिरिक्त दूसरी कोई श्रेष्ठ औषध नहीं है।

स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ८ ॥

भाग्यशाली वह है जिसका जीवन किसी अपयश से कलंकित न हो।

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ॥ ९ ॥

पराधीन वस्तुओं से अपने उत्कर्ष की आशा करना मूर्खता है।

न भयेषु विषादः प्रतीकारः किन्तु धैर्यावलम्बनम् ॥ १० ॥

किसी प्रकार के सङ्कट से भय उत्पन्न होने पर दुखी होकर बैठना उस भय को दूर करने का उपाय नहीं है, किन्तु धैर्यधारण करना ही उसका श्रेष्ठ प्रतीकार है।

स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मनःसमाधाने च मुह्यति ॥ ११ ॥

वह कैसा धनुर्धारी अथवा तपस्वी है जो रण में, मरण में, बाण-चढ़ाने में और मन को समझाने में मोह में—अज्ञान में—पड़ जाता है?

कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकञ्च ॥ १२ ॥

उपकारी के प्रति प्रत्युपकार न करनेवाले को इस लोक और परलोक में भी कोई फल प्राप्त नहीं होता।

शत्रुणाऽपि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ॥ १३ ॥

शत्रु के द्वारा भी कही गई उत्तम उक्ति में दोष न लगाना चाहिए।

कलहजननम् अप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्मो न सज्जनानाम् ॥१४॥

लड़ाई लगाना, बैर कराना दुर्जनों का कार्य है सज्जनों का नहीं।

श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्टः ॥ १५ ॥

भाग्यवश जो मिल गया उसीसे सन्तुष्ट हो जानेवाले व्यक्ति के पास लक्ष्मी नहीं आती।

तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धनम् ॥ १६ ॥

जो परम्परा से प्राप्त बैरभाव को शान्त नहीं कर सकता उसके वंश का विस्तार कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी से पुराना बैर, ठना रहने पर अवश्य ही कभी न कभी मारपीट में कुछ आदमी मरेंगे और इस प्रकार वंश की वृद्धि में बाधा होगी अतः बैर मिटा दे।

भीतेष्वभयदानात् परं न दानमस्ति ॥ १७ ॥

डरे हुये को अभयदान देने से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ दान नहीं है।

स्वस्यासम्पत्तौ न चिन्ता किञ्चित् काङ्क्षितमर्थं (प्रसूते) दुग्धे किन्तूत्साहः ॥ १८ ॥

अपनी दरिद्रता के विषय में चिन्ता में पड़े रहने से कोई लाभ नहीं होता किन्तु उत्साह रखने से अच्छा फल मिलता है। अर्थात् उत्साहपूर्वक उद्योग करने से लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होती हैं।

स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा (यः) सर्वेषु कल्पफलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि वन्ध्यः ॥ १९ ॥

यदि कोई स्वामी सर्वसाधारण के लिये कल्पवृक्ष के तुल्य फलदायक हो किन्तु मात्र अपने को उससे कोई फल न मिल सके तो उसे अपने ही पापों का उदय अथवा अपना ही कोई अपराध समझना चाहिए।

स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन्ननुभवति ॥ २० ॥

वह व्यक्ति सदा ही दुखी बना रहता है जो मूल धन का उपयोग करता है।

मूर्खदुर्जनचण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥ २१ ॥

मूर्ख, दुर्जन, चण्डाल और पतित पुरुषों की संगति न करे।

किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः ॥ २२ ॥

जिसका प्रेम हलदी के रंग के समान धो देने से छूट जानेवाला हो अर्थात् थोड़े में ही बदल जानेवाला हो उस मनुष्य के सन्तुष्ट हो जाने से भी क्या लाभ होगा ? वह क्षणभर में फिर बदलकर अहित भी कर सकता है।

स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ॥ २३ ॥

अपनी शक्ति और सामर्थ्य का अनुमान किये बिना दूसरे पर आक्रमण करने से किसकी पराजय नहीं होगी ?

नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः ॥ २४ ॥

शत्रु के आक्रमण का वास्तविक उत्तर स्वयं भी आक्रमण कर देना नहीं होता, किन्तु युक्ति से कोई बात करना ही उसका वास्तविक उत्तर होता है।

राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ॥ २५ ॥

बिना बात की बात बिगड़ बैठने वाले राजा के पास सेवकों का अभाव रहता है।

(न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ॥ २६ ॥)

किसी व्यक्ति के मृत हो जाने पर रुदन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे उस मृत व्यक्ति को अश्रुपात के तुल्य अङ्गारपतन की हार्दिक पीड़ा होती है।

(अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यदास्ति तत्समागमः ॥ २७ ॥)

नष्ट हुए पदार्थ के लिये शोक करना तभी कल्याणकारक समझा जायगा जब कि वह पुनः मिल जाय किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। अतः मृत व्यक्ति अथवा नष्ट पदार्थ के लिये शोक करना सर्वथा व्यर्थ है।

(शोकमात्मनि चिरमनुवासयँस्त्रिवर्गमनुशोषयति ॥ २८ ॥)

किसी वस्तु के लिये चिरकाल तक शोक करते रहने से धर्म, अर्थ और काम तीनों का नाश होता है।

(स किंपुरुषो योऽकिञ्चनः सन् करोति विषयाभिलाषम् ॥ २९ ॥)

जो व्यक्ति दरिद्र होकर भी अगम्य विषयों की अभिलाषा करता है वह निन्दनीय है।

(अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ॥ ३० ॥)

जो व्यक्ति अपरिचितों से मिलकर मधुर भाषणपूर्वक बातचीत करे उसे समझना चाहिये कि वह किसी कारणवश स्वर्ग से भ्रष्ट होकर इस मृत्युलोक में आ गया है।

(न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्त्तिः ॥ ३१ ॥)

जिसकी कीर्ति इस लोक में निरन्तर वर्त्तमान है वह मृत होकर भी जीवित है।

स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥

जिसने अपनी कीर्त्ति-चन्द्रिका से भुवनों को उज्ज्वल नहीं किया उसका जन्म पृथ्वी के लिये व्यर्थ भार है।

(परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥ ३३ ॥)

योगियों–महापुरुषों द्वारा किये गये जनकल्याण के कार्य लोगों के लिये महती कल्याण परम्परा है।

(का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥ ३४ ॥)

जो व्यक्ति अपनी शरण में आ जाय उसकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए।

अभिभवनमन्त्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्त्वानाम् ॥३५॥

किसी अभिलाषा से परोपकार करना महापातकियों का कार्य है, महापुरुषों का नहीं।

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागल्भ्यम् ॥ ३६ ॥

शत्रुओं की भी सभा में जिस राजा की कीर्त्ति का गान नहीं किया जाता उसका जय और अभ्युदय कैसा! अर्थात् राजा को इतना प्रभावशाली होना चाहिए कि शत्रु भी उसके गुणों और प्रभाव का लोहा मानें।

तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामाभिषम् ॥ ३७ ॥

आपत्ति के समय पलायन करते समय अपने कुटुम्ब को ऐसे व्यक्ति के यहां छोड़ जाना चाहिए जहाँ कुटुम्ब को दूसरे के द्वारा कोई हानि न हो।

परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मनः किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ॥ ३८ ॥

दूसरे की स्त्री और द्रव्य रखने से अपना कोई लाभ नहीं होता किन्तु यदि किसी प्रकार का उपद्रव हुआ तो उससे महान् अनर्थ होता है।

आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यथास्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥ ३९ ॥

अपने यहां रहने में जिसे परम सन्तोष हो और जो अपने ऊपर अनुरागी हो ऐसे व्यक्ति का परित्याग कभी भी नहीं करना चाहिए।

आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनम् ॥ ४० ॥

जो नौकरों की बढ़ती न देख सके और अपने को बहुत बड़ा माने ऐसे भृत्य के होने से राजा के बहुत से भी सेवक धीरे-धीरे करके चले जाते हैं और राजा अकेला रह जाता है। अतः राजा को चाहिए कि वह सेवकों में प्रमुख ऐसे व्यक्ति को बनावे जो अपने साथी सेवकों की तरक्की से प्रसन्न हो और स्वयं विनम्र स्वभाव का हो।

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥ ४१ ॥

अपराध के अनुसार पुत्र को भी दण्ड देना चाहिए।

देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥ ४२ ॥

देश की स्थिति के अनुसार ही कर ग्रहण करना चाहिए।

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनम् उदाहर्त्तव्यम् ॥ ४३ ॥

प्रतिपादन किये जाने वाले विषय के अनुकूल ही वाणी का प्रयोग करे। अर्थात् लोगों को जैसा विषय समझाना हो वैसी ही भाषा का व्यवहार करे।

आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥ ४४ ॥

आय के अनुसार ही व्यय करना चाहिये।

ऐश्वर्यानुरूपः प्रसादो विधेयः ॥ ४५ ॥

अपनी सम्पत्ति के अनुरूप ही दूसरों को भेंट और पुरस्कार आदि देना चाहिए।

स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥ ४६ ॥

वही पुरुष वास्तविक सुखी है जिसको सन्तोष है।

रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥ ४७ ॥

रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करनेवाला व्यक्ति चांडाल से भी अधिक नीच है।

सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥ ४८ ॥

सलज्ज व्यक्ति को निर्लज्ज न बना दें अर्थात् विनम्र भाव से रहने वाले व्यक्ति को मुंहलगा बना कर ढीठ कर देना उचित नहीं होता।

स पुमान् सवस्त्रोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चरित्रम् आवरणम् ॥ ४९ ॥

जिस पुरुष के पास सच्चरित्र रूपी आवरण नहीं है वह वस्त्र पहने हुए भी नंगा ही है।

स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण ॥ ५० ॥

जो सच्चरित्र से विभूषित है वह नंगा होने पर भी वस्त्रयुक्त है।

सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥ ५१ ॥

सर्वत्र संशयभरी दृष्टि रखने वाले को कार्यों में सिद्धि नहीं प्राप्त होती।

न क्षीरघृताभ्यां परं भोजनमस्ति ॥ ५२ ॥

दूध और घी से बढ़कर दूसरा भोजन नहीं है।

परोपघातेन वृत्तिरभव्यानाम् ॥ ५३ ॥

दूसरों को पीड़ित कर अपना जीवन निर्वाह करना दुष्टों का काम है।

वरमुपवासो न पराधीनं भोजनम् ॥ ५४ ॥

उपवास कर लेना अच्छा है किन्तु दूसरों के अधीन रहकर भोजन करना श्रेष्ठ नहीं है।

स देशोऽनुसर्त्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसङ्करः ॥ ५५ ॥

उस देश में निवास करना चाहिए जहां वर्णसंकर अर्थात् क्षुद्र प्रकृति के मनुष्य न हों।

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ॥ ५६ ॥

जो अपना परलोक का हित न देखे वह स्वभावतः अन्धा है।

व्रतं, विद्या, सत्यमानृशंस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रम् ॥ ४७ ॥

शुभ संकल्प, सद्विद्या का अभ्यास, सत्यपालन, अक्रूरता और गाम्भीर्य गुणों से मनुष्य ब्राह्मण होता है केवल ब्राह्मण जाति में जन्म लेने से नहीं।

निःस्पृहाणां का नाम परापेक्षा ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति निःस्पृह हैं—जिनको किसी बात का अभिलाष नहीं हैं उनको दूसरे व्यक्ति की सहायता आदि की क्या आवश्यकता है।

कं पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥ ५६ ॥

आशा किसे नहीं दुख देती।

स संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥ ६० ॥

जिसके हृदय में अज्ञान और तृष्णा नहीं है वही व्यक्ति वस्तुतः संयमी और गृहस्थ है।

शीलमलंकारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिः ॥ ६१ ॥

पुरुषों के लिये 'शील' ऐसा आभूषण है जो बाहर से देह को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता अथवा भार नहीं लगता।

अप्रियकर्त्तर्ने प्रियकरणात् परमम् आचरणम् ॥ ६३ ॥

अप्रिय आचरण करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रिय व्यवहार करना सर्वश्रेष्ठ आचरण है।

अप्रयच्छन्नर्थिने न परुषं ब्रूयात् ॥ ६४ ॥

जिसे कुछ देना न चाहे ऐसे याचक के प्रति कम से कम कठोर वचन तो न बोले।

स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥ ६५ ॥

वह स्वामी मरुभूमि के समान है जिससे याचकों की अभीष्ट याञ्चा न पूर्ण हो।

प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥ ६६ ॥

राजा का यज्ञ प्रजापालन है न कि जीवों की बलि देना।

प्रभूतमपि नानपराधसत्त्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥ ६७ ॥

राजा की प्रचुरशक्ति सैन्य बल आदि अथवा दृढ़ धनुष निरपराध व्यक्तियों को नष्ट करने के लिये नहीं किन्तु शरणागतों की रक्षा के लिये होता है।

[इति सदाचारसमुद्देशः]

---

२७. व्यवहारसमुद्देशः

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि बन्धनं दृढ़माहुः ।। १ ।।

मनुष्यों के लिये भार्या बन्धन की लोह-शृङ्खला न होने पर भी दृढ़ बन्धन है ।

त्रीण्यवश्यं भर्त्तव्यानि माता, कलत्रम्, अप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ।। २ ।।

माता, स्त्री, और व्यवहार में अबोध सन्तति इन तीनों का भरण-पोषण अवश्य करना चाहिए ।

दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ।। ३ ।।

दान, तप और उपवास ये तीर्थ सेवा के फल हैं ।

तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुः ।। ४ ।।

तीर्थ स्नान में वास करनेवाले देवता का द्रव्य नहीं ग्रहण करते यह कहना वैसा ही है जैसे मांस भक्षक में करुणा का होना और अपने आचार-विचार से भ्रष्ट पुरुष में पाप भीरुता का होना । ऐसा लोग कहते हैं ।

अधार्मिकत्वम् अतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः ।। ५ ।।

अधार्मिक होना, अतिक्रूर होना, वञ्चना करना यह प्रायः तीर्थ-वासियों का स्वभाव होता है ।

स किं प्रभुर्यः कार्यकाल एव न संभावयति भृत्यान् ।। ६ ।।

वह स्वामी निन्दनीय है जो कार्य के अवसर पर ही सेवकों का पुरस्कार आदि से सम्मान नहीं करता ।

स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ।। ७ ।।

वह सेवक और सखा भी निन्दनीय है जो कार्य के समय अर्थ की याच्ञा करता है ।

याऽर्थेन प्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टि सा किंभार्या ।। ८ ।।

जो द्रव्य के कारण अनुराग और आलिङ्गन करती है वह भार्या निन्दनीय है ।

स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ।। ९ ।।

वह देश कुत्सित है जहां अपना जीवन-निर्वाह नहीं ।

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ॥ १० ॥

दुःख के अवसर पर काम न आने वाला क्या बन्धु है ? अर्थात् वह कुत्सित बन्धु है ।

तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ॥ ११ ॥

जिस पर विश्वास न किया जा सके वह कुत्सित मित्र है ।

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ॥ १२ ॥

जिसके पास सती भार्या रूप सम्पत्ति नहीं हैं वह गृहस्थ निन्दनीय है ।

तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ॥ १३ ॥

विना सम्मान का दान निन्दनीय है ।

तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ॥ १४ ॥

जिस भोजन में अतिथि का भाग न हो वह निन्दनीय भोजन है ।

तत्किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रवृत्तिः ॥ १५ ॥

जहाँ प्रयोजन वश प्रवृत्ति हो वह प्रेम निन्दनीय है ।

तत् किमाचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥ १६ ॥

वह आचार निन्दनीय है जिसमें अपयश और छल-कपट पूर्ण व्यवहार हो ।

तत् किमपत्यं यत्र नाध्ययनं विनयो वा ॥ १७ ॥

वह कुत्सित पुत्र है जिसमें न अध्ययन हो न विनय हो ।

तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥ १८ ॥

मदान्ध चित्त वाले का ज्ञान निन्दनीय है ।

तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥ १९ ॥

जहां पीठ पीछे निन्दा की जाती हो वह सज्जनता कैसी ?

सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणाम् ॥ २० ॥

उस लक्ष्मी से भी क्या जिससे सत्पुरुषों को सन्तोष न हो ।

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य ॥ २१ ॥

किये हुए उपकार को जहां कह-कहकर प्रकट किया जाय वह उपकार प्रशंसनीय नहीं है ।

तयोः को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पण्डितौ लुब्धौ साहङ्कारौ ॥ २२ ॥

ऐसे उन दो आदमियों का परस्पर निर्वाह कैसे हो सकता है जो दोनों ही बड़े अभिमानी, पण्डित, लोभी और अहङ्कारी हों ।

स्ववान्त इव स्व-दत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ॥ २३ ॥

अपने द्वारा किये गये वमन के समान अपने द्वारा दी गई वस्तु का पुनः अभिलाष नहीं करना चाहिए।

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातानाम् ॥ २४ ॥

कुलीन व्यक्ति उपकार करने के अनन्तर मौन रहते हैं।

परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणाम् ॥ २५ ॥

सज्जन पुरुष दूसरे का दोष सुनने के समय बहरे बन जाते हैं।

परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥ २६ ॥

अतीव पुण्यशाली व्यक्ति दूसरे की स्त्री को देखने के अवसर पर अन्धे बन जाते हैं।

शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः कर्त्तव्यः किं पुनर्न महति ॥ २७ ॥

जबकि अपने घर में शत्रु के भी आने पर उसका समादर करना उचित है तो महान् व्यक्ति के आगमन पर उसका समादर क्यों न किया जायगा।

अन्तः सारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥ २८ ॥

गुप्त धन को जिस प्रकार दूसरे को नहीं बताया जाता उसी प्रकार अपना धर्माचरण भी किसी के समक्ष नहीं व्यक्त करना चाहिए।

मदप्रमादजे दोषे गुरुषु निवेदनम् अनु प्रायश्चित्तं च प्रतीकारः ॥ २९ ॥

काम क्रोध आदि के मद-वश अथवा असावधानी से किये गये दुष्कृत्य को गुरुजनों से निवेदन करने के अनन्तर उसका प्रायश्चित्त कर लेना ही उसका प्रतीकार है।

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो, यो देव-द्विजान् प्रीणाति ॥ ३० ॥

जिस धन से देवता और ब्राह्मणों को प्रसन्न किया जाता हो उस धन के अर्जन में श्रीमानों का कष्ट धन्यवाद के योग्य है।

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥ ३१ ॥

नीचों के साथ कितना भी आत्मीय भाव क्यों न कर लिया जाय वे पेट में डाले गये अर्थात् खाये हुये चनों की भांति कुछ न कुछ विकार करते ही हैं।

स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनवेक्ष्य परोपकारं करोति ॥ ३२ ॥

उस पुरुष का आचरण वन्दनीय है जो प्रत्युपकार की आशा न रखकर दूसरे का उपकार करता है।

अज्ञानस्य वैराग्यं, भिक्षोर्विटत्वम्, अधनस्य विलासो, वेश्यारतस्य शौचम्, अविदितवेदितव्यस्य तत्त्वग्रह इति पञ्च न कस्य मस्तकशूलानि ॥ ३३ ॥

अज्ञानी का वैराग्य ग्रहण करना, भिक्षु का कामुक होना, निर्धन का

विलास भोग में रत होना बेश्यागामी की पवित्रता तथा तत्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान से पूर्व जानने योग्य बातों को जाने बिना तत्वज्ञान के लिये आग्रह करना ये पांच किसके लिये 'शिरदर्द' नहीं होते अर्थात् इन बातों से सबको कष्ट होता है।

स हि पञ्च-महापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥३४॥

जो व्यक्ति शस्त्र रहित अथवा शास्त्र ज्ञान से शून्य पुरुष से युद्ध अथवा शास्त्रार्थ के लिये प्रवृत्त होता हैं उसे पांच महापापों के करने का पाप होता है।

स्त्री, बालक, गौ, ब्राह्मण और अपना स्वामी इनका वध पंच महापातक है।

उपश्रुति श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥ ३५ ॥

उपश्रुति सुनने के समान ही कार्य-वश नीच के घर भी स्वयं जाना चाहिए।

नक्तं निर्गत्य यत्किञ्चिच्छुभाशुभकरं वचः ।
श्रूयते तद्विदुर्धीरा देवप्रश्नमुपश्रुतिम् ॥ (हारावली)

भविष्य का शुभ अशुभ बताने के लिये देवगण रात्रि में कुछ शब्द करते हैं इस विश्वास से रात्रि के समय घर से निकल कर उस शब्द को सुनने के लिये जो गम्य अगम्य स्थान पर जाकर उस शकुन को सुनते हैं उस देव प्रश्न को विद्वान् उपश्रुति कहते हैं।

वेश्यागमो गृहिणीं गृहपतिं वा प्रत्यवसादयति ॥ ३६ ॥

वेश्या के समागम से गृहिणी अथवा गृहपति का विनाश हो जाता है।

वेश्यासंग्रहो देवद्विजगृहिणीबन्धूनामुच्चाटनमन्त्रः ॥ ३७ ॥

वेश्या से व्यवहार रखना देवता, ब्राह्मण अपनी स्त्री और बन्धुओं के लिये उच्चाटन मन्त्र के प्रयोग के समान है।

अहो लोकस्य पापं यन्निजस्त्री रतिरपि भवति निम्बसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥ ३८ ॥

पाप के विषय में लोगों की यह कैसी बिडम्बना है कि कामदेव की स्त्री रति के समान भी अपनी स्त्री नीम के समान कड़वी अथवा अप्रिय लगती है और परपुरुष की स्त्री कुतिया के समान क्षुद्र होने पर भी रम्भा देवलोक की अप्सरा के समान प्रिय लगती है।

स सुखी यस्य एकदैव दारपरिग्रहः ॥ ३९ ॥

सुखी वही है जिसकी एक ही स्त्री होती है।

व्यसनिनो यथा अभिसारिकासु सुखं न तथा अर्थवतीषु ॥ ४० ॥

लम्पट पुरुष को व्यभिचारिणी अभिसारिका से जैसा सुख मिलता है वैसा वेश्या से नहीं।

महान् धन-व्ययस्तदिच्छानुवर्त्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ॥ ४१ ॥

वेश्या के यहां जाने में बहुत धन का व्यय करना पड़ता है, उसकी इच्छा का अनुसरण करना होता है और विनम्र याचक बनना होता है।

आस्तरणं, कम्बलो, जीवधनं, गर्दभः, परिग्रहो, वोढा, सर्वकर्माणश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि ॥ ४२ ॥

बिस्तर, कम्बल, पशुधन-गायबैल आदि, गदहा, स्त्री, बोझ ढोने वाला और सब प्रकार का काम करनेवाला सेवक ये किसके लिये सुखदायक नहीं होते! अर्थात् इनसे सबको सुख मिलता है।

न दारिद्र्यात् परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति ॥ ४३ ॥

पुरुष के लिये दरिद्रता से बढ़कर दूसरा कोई कलंक नही है, जिसके संयोग से उसके सब गुण निष्फल हो जाते हैं।

अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥ ४४ ॥

धन न मिलने पर भी लोग धनी पुरुष के सहायक हो जाते हैं।

धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥ ४५ ॥

सन्यासी भी धनी की चाटुकारिता-खुशामद करते हैं।

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात् परं पावनमस्ति ॥ ४६ ॥

रत्न और सुवर्ण से पवित्र किये गये जल से बढ़कर दूसरा कोई पवित्र करनेवाला पदार्थ नहीं है।

स्वयं मेध्या आपो वह्नितप्ता विशेषतः ॥ ४७ ॥

जल स्वयं पवित्र है किन्तु अग्नि पर गरम किया गया जल विशेषरूप से पवित्र हैं।

स एवोत्सवो यत्र बन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥ ४८ ॥

उत्सव वही हैं जिसमें बन्दी छोड़े जायँ और दीनों का उद्धार किया जाय।

तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणम् ॥ ४९ ॥

पर्व, त्योहार के वही दिन हैं जिनमें अतिथि और सेवकगण खिलापिला-कर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किये जायं।

तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणम् ॥ ५० ॥

प्रतिपद आदि तिथियों में मनुष्य के लिये वही तिथि तिथि है जिसमें वह किसी प्रकार का अधर्म का कार्य न करे।

सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥ ५१ ॥

तीर्थ यात्रा वही सफल है जिसमें मनुष्य दुष्कृत्य का परित्याग कर दे।

तत् पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥ ५२ ॥

पाण्डित्य वही सफल है जिसमें अवस्था और विद्या के अनुरूप आचरण किया जाय।

तच्चातुर्यं यत् परप्रीत्या कार्यसाधनम् ॥ ५३ ॥

चतुराई वही है जिसमें दूसरे को प्रसन्न रख कर अपना कार्य सिद्ध किया जाय।

तल्लोकोचितत्वं यत् सर्वजनादेयत्वम् ॥ ५४ ॥

लोकोचित वही कर्म है जिससे मनुष्य सबका प्रिय पात्र बन जाय।

तत् सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥ ५५ ॥

सज्जनता वही है जिसमें दूसरे को किसी प्रकार का उद्वेग (भय और त्रास) न प्रतीत हो।

तद्धीरत्वं यत्र यौवने नापवादः ॥ ५६ ॥

धीरता वही है जिसमें युवावस्था में कोई अपयश न हो।

तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणम् ॥ ५७ ॥

मनुष्य का सौभाग्य वही है कि वह किसी को कुछ दे भी नहीं और लोग उसके वश में रहें।

सा सभारण्यानी यस्यां न सन्ति विद्वांसः ॥ ५८ ॥

वह सभा अरण्यस्थली है जिसमें विद्वान् न हों।

किं तेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥ ५९ ॥

कोई व्यक्ति अपना प्रिय तो हो, किन्तु उसके लिये आप प्रिय न हों तो उस प्रियता से क्या लाभ ? अर्थात् प्रीति दोनों ओर से समान होनी चाहिए।

स किं प्रभुर्यो न सहते परिजनसम्बाधम् ॥ ६० ॥

वह स्वामी श्लाघनीय नहीं है जो सेवकों की बाधाओं और आवश्यकताओं को नहीं सहन कर सकता, अर्थात् सेवकों की आवश्यकता के अनुकूल यदि व्यय न कर सके तो वह स्वामी ठीक नहीं है।

न लेखाद् वचनं प्रमाणम् ॥ ६१ ॥

लेख से बढ़कर वचन को प्रमाण नहीं माना जाता।

अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥ ६२ ॥

बिना हस्ताक्षर आदि का अपरिचित लेख भी विश्वसनीय नहीं होता।

त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति, स्वामिद्रोहः, स्त्रीवधो बालवधश्चेति ॥ ६३ ॥

अपने स्वामी से द्रोह, स्त्री और बालक का वध ये तीन पाप तत्काल अनिष्ट फलदायक होते हैं ।

अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवता सह विग्रहाय टिरिटिल्लितम् ॥ ६४ ॥

विना नाव के समुद्र में प्रवेश के समान निर्बल का बलवान् के साथ वैर विनाशकारी होता है ।

बलवन्तमाश्रित्य विकृति-भजनं सद्यो मरणकारणम् ॥ ६५ ॥

बलवान् के आश्रय में रहकर उससे बिगाड़ करना तत्काल मरण का कारण होता है ।

प्रवासः चक्रवर्त्तिनमपि सन्तापयति किं पुनर्नान्यम् ॥ ६६ ॥

प्रवास चक्रवर्त्तियों को भी दुःख देता है तो स्वल्प साधन सम्पन्न दूसरों को क्यों न दुःखकर होगा । अर्थात् परदेश में सबको क्लेश होता है ।

बहुपाथेयं, मनोऽनुकूलः परिजनः, सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरणतरण्डको वर्गः ॥ ६७ ॥

पाथेय (रास्ते का कलेवा) प्रचुर मात्रा में हो मन के अनुकूल सेवक हों, प्रवास की सब सामग्री सुव्यवस्थित रूप से हो इतनी वस्तुएँ प्रवास रूप समुद्र में दुःखों से उद्धार पाने के लिए जहाज के समान हैं ।

[इति व्यवहार-समुद्देशः]

---

२८. विवाद-समुद्देशः

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा, स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे ॥ १ ॥

विवाद में गुण और दोषों का निर्णय करने के लिये राजा तराजू की डांड़ी के समान निर्णायक है और प्रजा की गुरुता और लघुता—निर्दोष अथवा सदोष सिद्ध होना उसके अपने गुण दोषों पर निर्भर करता है ।

राजा त्वपराधालिङ्गितानां समवर्त्ती तत्फलमनुभावयति ॥ २ ॥

राजा पुत्र और सामान्य प्रजा में समदृष्टि होकर अपराधियों को उनके अपराधों के अनुकूल फल–दण्ड–का भोग कराता है—विधान बनाता है ।

आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः ॥ ३ ॥

राजा की सभा के सभासद सूर्य के समान यथार्थ तत्त्व को प्रकाशित करने की प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं।

अदृष्टाश्रुतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषाः न सभ्याः ॥ ४ ॥

लोक व्यवहार (कानून) के अनुभव और अध्ययन से शून्य वादी प्रतिवादी अथवा राजा के शत्रु एवं सहज ईर्ष्या द्वेषयुक्त व्यक्ति राजा के न्यायालय के सदस्य होने योग्य नहीं होते।

लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतिश्च सद्यो मानार्थहानिं लभेरन् ॥ ५ ॥

लोभ अथवा पक्षपातपूर्ण दृष्टि के कारण अयथार्थवादी—ठीक निर्णय न देनेवाले सभासदों और सभापति-न्यायाधीश अथवा राजा की तत्काल मानहानि और अर्थहानि होती है।

तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी ॥ ६ ॥

जिस विवाद में स्वयं सभापति=न्यायाधीश ही विरोधी अथवा पक्षपातपूर्ण हो जाय वह विवाद अथवा मुकदमा व्यर्थ है। क्योंकि न्यायाधीश के अनुकूल सब सभासद बोलेंगे।

सभ्यसभापत्योरसामञ्जस्येन कुतो जयः, किं बहुभिश्छगलः श्वा न क्रियते ॥ ७ ॥

सभासदों और सभापति में जब ऐकमत्य न होगा तब विजय की आशा करना व्यर्थ है। क्या बहुत से आदमी कह कर बकरे को कुत्ता नहीं बना देते।

यहां हितोपदेश की उस कथा का सन्दर्भ है जिसमें एक ब्राह्मण जब बकरे को लादे हुए जा रहा था तब धूर्तों ने सलाह करके उस बकरे को अपने खाने के लिये छीनना चाहा। वे एक एक करके थोड़ी-थोड़ी दूरी पर खड़े हो गये और अपने पास आते ही उस ब्राह्मण से कहते हैं कि क्या ब्राह्मण होकर कुत्ते को ढोते फिरते हो ? इस प्रकार लगातार कई आदमियों के कहने पर ब्राह्मण को संशय हो गया और उसने बकरे को मार्ग में ही छोड़ दिया जिसे धूर्त्त लोग ले गये। मुकदमें में भी जब बहुसंख्यक सभासद किसी असत् पक्ष को भी सत् सिद्ध करने लगेंगे तो उन्हीं की जीत होगी।

पराजित व्यक्ति के चिह्न—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु, युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुद्धृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥ ८ ॥

विवाद-मुकदमा प्रारम्भ करके जो न्यायालय में उपस्थित न हों, पुकार होने पर चला जाय, उसका प्रथम वक्तव्य आगे के वक्तव्य से विरुद्ध पड़ता हो, पूर्वकथित युक्तियुक्त बात का उत्तर देने में असमर्थ हो और युक्तियुक्त को न माने, अपना दोष न मान कर दूसरे का दोष निकाले यथार्थ न्याय होने पर भी न्यायालय का अनौचित्य बतलावे यह सब पराजित के लक्षण हैं।

छलेनाप्रतिभासेन* वचनाकौशलेन चार्थहानिः ॥ ८ ॥

विवाद में यदि सभासद छलकपट करें, अथवा अभियोग के विषय में ठीक परामर्श और अनुसन्धान न करें बोलने में निपुण न हों तो वादी प्रतिवादी की व्यर्थ हानि होती है।

भुक्तिः, साक्षी, शासनं प्रमाणम् ॥ ९ ॥

विवाद में तीन चीज प्रमाण मानी जाती है भुक्ति अर्थात् जमीन जायदाद पर बारह बर्ष तक का कब्जा, गवाह, और न्यायालयीय लेख दस्तावेज आदि।

भुक्तिः सापवादा, साक्रोशाः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति ॥ १० ॥

अधिकार अथवा कब्जा बलात् किया गया हो, गवाह सदोष हों, और (दस्तावेज) अधिकार पत्र साफ लिखा पढ़ा न हो तो विवाद का मुकदमे का अन्त नहीं हो पाता।

बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणम् ॥ ११ ॥

जो बात बलात् कराई गई हो, अन्याय से हुई हो अथवा राज-बल से हुई हो वह प्रमाणभूत नहीं होती।

वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यम् ॥ १२ ॥

वेश्या और जुआड़ी का वचन जितना ग्राह्य हो उतना प्रमाणित मानना चाहिये।

असत्यंकारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १४ ॥

सर्वथा झूठे व्यवहार में विवाद नहीं होता। अर्थात् जब वादीप्रतिवादी दोनों ही झूठे होंगे तो अभियोग क्या चलेगा?।

नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात् सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥ १४ ॥

धरोहर के रूप में रक्खे गये मूलद्रव्य (पूंजी) के विवाद में जिसके यहां वह वस्तु रक्खी गई अथवा जिसने रक्खी उस पुरुष की विख्यात प्रामा-

---

* प्रतिभास के अनुसन्धान और परामर्श अर्थ के लिये देखिए काव्य प्रकाश दशम उल्लास प्रारम्भ—वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव पर वामन टीका॥

णिकता अप्रामाणिकता के आधार पर सत्य का निर्णय करना चाहिए अथवा शपथ ग्रहण अथवा दण्ड के द्वारा सत्य का निर्णय करना चाहिए।

यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसम्मते मनुष्ये नीचेऽपि ॥ १५ ॥

जब कि जैसे-तैसे अर्थात् साधारण अथवा निकृष्ट चरित्र के गवाह से शपथ नहीं कराई जाती तब वादी और प्रतिवादी दोनों से सम्मत नीच गवाह से शपथ कैसे कराई जावगी।

यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ॥ १६ ॥

जो कोई दूसरे का द्रव्य अपहरण कर ले अथवा नष्ट करदे तो उस विवाद में शपथ, कुड़की अथवा दण्ड का भय दिखाकर निर्णय करना चाहिए।

अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसंभावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥ १७ ॥

शपथ आदि प्रयोगों के द्वारा अपने को निर्दोष सिद्ध करनेवाले व्यक्ति का अपराध यदि पुनः सिद्ध हो तो उसके प्राणों को छोडकर उसका शेष समस्त धन राजा को ग्रहण कर लेना चाहिए।

लिङ्गिनास्तिकस्वाचाराच्च्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ॥ १८ ॥

संन्यासी, वैरागी आदि चिह्नधारी, नास्तिक और अपने आचार से भ्रष्ट तथा पतित पुरुषों के वाद-विवाद के निर्णय में शपथ क्रिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये झूठी शपथ भी ले लेते हैं।

तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥ १९ ॥

उनके विवाद का निर्णय युक्तियों द्वारा करके उनको दोषी अथवा निर्दोष ठहरावे।

सन्दिग्धे पत्रे साक्ष्ये वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥ २० ॥

दस्तावेज आदि शासकीय अभिलेख अथवा गवाह जब सन्दिग्ध हों तब बहुत विचारपूर्वक निर्णय करना चाहिए।

परस्परविवादे न युगैरपि विवादसमाप्तिरानन्त्याद् विपरीतप्रत्युक्तीनाम् ॥ २१ ॥

वादी प्रतिवादी यदि स्वयं ही तर्क-वितर्क (बहस) करने लगें तो प्रश्नों और उत्तरों तथा युक्तियों की अनन्तता के कारण युगों तक अभियोग का निर्णय नहीं हो सकता अतः धर्माधिकारी अथवा वकीलों के माध्यम से विवाद का निर्णय करना चाहिए।

ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ॥२२॥

ग्राम अथवा तहसील में झगड़ा निपट जाने पर भी यदि पुनः विवाद उपस्थित हो जाय तो ऐसे विवाद में राजा के पास आना चाहिए।

राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥ २३ ॥

राजा के द्वारा अभियोग का निर्णय हो जाने पर अपील नहीं होती। अनुबन्ध का अर्थ दोष किया गया है जिसके अनुसार अर्थ होगा राजाके निर्णय में दोष नहीं होता।

राजाज्ञां मर्यादां वाऽतिक्रामन् सद्यः फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः ॥२४॥

राजा की आज्ञा अथवा न्याय की मर्यादा का उल्लङ्घन करने वालेको तात्कालिक दण्ड से दण्डित करना चाहिए।

न हि दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥ २५ ॥

प्रजा को अनुशासन में लाने के लिये दण्ड के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। टेढ़ा काष्ठ अग्नि के संयोग से ही सीधा होता है।

ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति नहि तथा वक्रः संछिद्यते यथा सरलः ॥ २६ ॥

सीधे को सब दबा लेते हैं। वन में खड़ा टेढ़ा पेड़ वैसा नहीं काटा जाता जैसा कि सीधा।

स्वोपालम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥ २७ ॥

राजा की ओर से नियुक्त धर्माधिकारी सरकारी वकील को राजकीय पक्ष को प्रबल सिद्ध करते हुए राज्य के ऊपर लगाया गया आरोप दूर कर दूसरे को दोषी ठहराते हुए समझौता करा देना चाहिए।

न हि भर्त्तुरभियोगात् परं सत्यमसत्यं वा वदन्तम् अवगृह्णीयात् ॥ २८ ॥

स्वामी का पक्षपात करके सत्य अथवा असत्य कहनेवाले के अनुसार किसी को दोषी नहीं सिद्ध करना चाहिए। अर्थात् राजनियुक्त पुरुष को विवाद में पक्षपात नहीं करना चाहिए।

अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नाकलहः संभवति ॥ २८ ॥

एक ही साथ रहकर पैसे का लेन देन विना झगड़ा के नहीं चल सकता। अर्थात् ऐसी स्थिति में कलह, अवश्य होगा। अतः दो पृथक् व्यक्ति यदि एक साथ शान्ति से रहना चाहें तो आपस में पैसे का लेन-देन नहीं करना चाहिए।

निधिराकस्मिको वाऽर्थलाभः प्राणैः सह सञ्चितमप्यर्थमपहार-यति ॥ २६ ॥

पूर्वजों से संचित अथवा प्राप्त निधि अथवा अकस्मात् मिला हुआ धन प्राणों के साथ सञ्चित अर्थ को भी नष्ट कर देता है।

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥ ३० ॥

ब्राह्मण की शपथ सुवर्ण अथवा यज्ञोपवीत के स्पर्श से होती है।

शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥ ३१ ॥

शस्त्र, रत्न मोती, हीरा आदि, पृथ्वी, सवारी घोड़ा, हाथी आदि और सवारी की जीन का स्पर्श कराकर क्षत्रियों से शपथ कराई जाती है।

श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥ ३२ ॥

कान, छोटा बच्चा, तीस कौड़ियां अथवा सुवर्ण के स्पर्श से वैश्यों की शपथ होती है।

शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥ ३३ ॥

शूद्रों की शपथ, क्रिया, दूध, अन्न और बांबी के स्पर्श से होती है।

कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानाम् ॥३४॥

जो जिस शिल्प से जीवन निर्वाह करता हो उसके साधनभूत औजारों को स्पर्श करके शिल्पी की शपथक्रिया होती है।

व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणा, दिव्यकोशात्तन्दुल-तुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥ ३५ ॥

व्रती, तपस्वी तथा अन्य पुरुषों की शपथक्रिया उनके इष्ट देवता के पाद-स्पर्श से, उनकी प्रदक्षिणा से, देव-निधि के स्पर्श से चावलों के स्पर्श से और तुला पर आरोहण-पैर रखने से होती है।

व्याधानां तु धनुर्लङ्घनम् ॥ ३६ ॥

बहेलियों की शपथ धनुष के लांघने से होती है।

अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मारोहणम् ॥ ३७ ॥

शूद्र, चाण्डाल आदि की शपथक्रिया गीले चमड़े पर पैर रखकर खड़े होने से होती है।

वेश्या महिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं चत्वार्य-शाश्वतानि ॥ ३८ ॥

वेश्या का किसी की पत्नी बनना, धूर्त सेवक का होना, चुङ्गी, टैक्स आदि की आय और अधिकारी की मैत्री ये चार अस्थिर वस्तुएं हैं।

क्रीतेष्वाहारेष्विव परस्त्रीषु क आस्वादः ॥ ३९ ॥

खरीदे हुए भोजन के समान बाजारू स्त्री अर्थात् वेश्या में क्या स्वाद मिल सकता है ?

यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥ ४० ॥

जिसका जितना बड़ा परिवार है उसको उतना ही दुःख है।

गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥ ४१ ॥

राजा और धोबी को हाथी और गदहे की चिन्ता समान रूप से होती है।

मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्त्तते ॥ ४२ ॥

मूर्ख पुरुष का आग्रह (मिथ्या हठ) बिना उसके नाश के नहीं दूर होता।

कार्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शान्तावुपेक्षणमौषधम् ॥ ४३ ॥

कपास में लगी आग जिस प्रकार शान्त नहीं की जा सकती उसी प्रकार मूर्ख का दुराग्रह नहीं दूर किया जा सकता। अतः उसकी उपेक्षा करना ही उसकी औषध है।

मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः ॥ ४४ ॥

मूर्ख को समझाना उसे और उकसाना है।

कोपाग्निप्रज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥ ४५ ॥

क्रोध की आग में जलते हुए मूर्ख को तत्काल शान्त करने की चेष्टा आग में घी की आहुति देने के समान है।

अनस्तिकोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥ ४६ ॥

जिस तरह बिना नकेल के बैल को पकड़ने में वह पकड़ने वाले को ही घसीट ले जाता है उसी प्रकार कुपित मूर्ख को समझाना भी आपत्ति में पड़ना है।

स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद् गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ॥ ४७ ॥

निर्गुण वस्तु किसी के पक्षपात से गुणवान् नहीं बन जाती। ग्वाले के स्नेह से बैल नहीं दूध देने लगता।

[इति विवादसमुद्देशः]

---

२९. षाड्गुण्यसमुद्देशः

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥ १ ॥

शम और व्यायाम योग क्षेम के कारण हैं।

कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनः शमः, कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ॥ २ ॥

अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त फल को भोगने में सहायक कल्याणकारी साधनों का नाम शम है, और नवीन कर्म करने के उद्योग का नाम व्यायाम है।

दैवं धर्माधर्मौ ॥ ३ ॥

अपना ही पूर्व जन्म का किया हुआ धर्म अथवा अधर्म, सुकृत अथवा दुष्कृत 'दैव' है।

मानुषं नयानयौ ॥ ४ ॥

अपना ही नीतिपूर्ण अथवा अनीतिपूर्ण व्यवहार मानुष कर्म है।

दैवं मानुषं च कर्म लोकं यापयति ॥ ५ ॥

दैव और मानुष दोनों कर्मों के योग से मनुष्य का दैनिक जीवन निर्वाह होता है।

तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवम् ॥ ६ ॥

मनुष्य चाहे तो दैव कर्म की चिन्ता करे चाहे न करे क्योंकि वह तो होकर ही रहेगा। अतः उसकी उपेक्षा करनी चाहिए।

अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ॥ ७ ॥

बिना सोच विचार के प्राप्त विषयों से सम्बन्ध होना दैवाधीन है।

बुद्धिपूर्वं हिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायत्तः ॥ ८ ॥

ज्ञानपूर्वक हितकर कार्य करना और अहितकर से बचना मनुष्य के अधीन है।

सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥ ९ ॥

दैव के अनुकूल होने पर भी बिना कर्म किये मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥ १० ॥

दैव वादी के समक्ष उपस्थित भोजन स्वयं ही उसके मुखमें नहीं प्रविष्ट हो जाता।

न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् सन्धत्ते ॥ ११ ॥

दैववादी का धनुष अपने आप बाणों को नहीं चढ़ा लेता।

पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥ १२ ॥

उद्योगी पुरुष का कार्य सिद्ध होगा अथवा असिद्ध रहेगा इसमें सन्देह स्वाभाविक है।

निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥ १३ ॥

दैववादी के लिये तो अनर्थ निश्चित ही रहता है।

आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥ १४ ॥

जिस प्रकार आयु शेष रहने पर औषध के संयोग से मनुष्य का रोग दूर होता है उसी प्रकार दैव और उद्योग दोनों के परस्पर सहयोग से ही मनुष्य अपना मनोरथ पूर्ण करने में समर्थ होता है।

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद् धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥१५॥

किसी भी धर्म का अनुष्ठान मनुष्य को उस धर्माचरण का शुभ फल देता है और उसे अधर्म से बचाता है।

त्रिपुरुषमूर्त्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥ १६ ॥

राजा ब्रह्मा विष्णु महेश की मूर्त्ति होता है अतः उसका कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं होता।

प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः, परे ब्रह्मणि निष्णातमतिः, उपासितगुरुकुलः, सम्यग् विद्यायामधीती, कौमारवयोऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७॥

प्रथम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट परब्रह्म, के चिन्तन में संलग्न, गुरु कुल में रहकर गुरुओं की उपासना किये हुए, वेद विद्या अथवा ब्रह्मविद्या का अध्ययनशील कुमारावस्था को अलंकृत करता हुआ, क्षत्रिय पुत्र ब्रह्मा के समान होता है।

संजातराज्यलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥ १८ ॥

राज्य लक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त अर्थात् राज्याभिषेक हो जाने के अनन्तर प्रजा का प्रेम प्राप्त करता हुआ राजा नारायण का रूप कहा गया है।

प्रवृद्धप्रतापतृतीयलोचनानलः, परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्, दानवान् छेत्तुं यतते विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥१९॥

धधकती हुई प्रतापाग्नि रूप तृतीय नेत्रवाला, परम ऐश्वर्य का उपभोग करता हुआ राष्ट्र के लिये कण्टक स्वरूप शत्रु रूप दानवों का नाश करने के लिये उद्यत, विजय की कामना करने वाला राजा पिनाकपाणि महादेव का स्वरूप है।

उदासीन-मध्यम-विजिगीषु-अरि-मित्र-पार्ष्णिग्राह-आक्रन्द-आसार अन्तर्धयो यथासंभवगुणविभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥२०॥

उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, आसार और अन्तर्धि ये यथासंभव गुण और ऐश्वर्य के अनुपात से राजमण्डल के अधिष्ठाता होते हैं।

अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित् कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः ॥ २१ ॥

राजमण्डल में जो प्रधान राजा के आगे पीछे किसी कोने में अथवा अत्यन्त समीप स्थित होकर 'मध्यम' आदि युद्ध करनेवालों को रोकने में और युद्ध के लिये सुसंगठितों को युद्ध का आदेश देने में समर्थ होते हुए भी किसी कारण-वश जो दूसरे जय के इच्छुक राजा के प्रति उपेक्षा करता है उसे 'उदासीन' कहते हैं।

उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥ २२ ॥

उदासीन के समान ही जिसकी आगे पीछे अथवा कोने में स्थिति निश्चित न हो तथा अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक बलशाली होकर भी जो किसी कारणवश अन्य विजयाभिलाषी राजा के प्रति मध्यमवृत्ति अर्थात् न शत्रु न मित्र का व्यवहार करे वह 'मध्यस्थ' है।

राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥२३॥

जिसका राज्याभिषेक हो चुका हो, और जिसको प्राक्तन शुभकर्मों का भोग प्राप्त हो, ऐश्वर्य और अमात्य आदि से जो सम्पन्न हो और जिसमें नीति तथा पराक्रम का वास हो ऐसा राजा 'विजिगीषु' कहा गया है।

य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमियर्त्ति स एवारिः ॥ २४ ॥

जो अपने आत्मीय का अपकार करके प्रतिकूलता को प्राप्त कर ले वह 'अरि' है।

मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥ २५ ॥

मित्र समुद्देश्य में मित्र का लक्षण कहा जा चुका है।

यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥ २६ ॥

शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से प्रस्थान किये हुए या करते हुए

राजा के चले जाने के अनन्तर जो क्रोधकर उस बिजिगीषु के देश का मर्दन कर डाले वह पार्ष्णिग्राह' है।

पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥ २७ ॥

पार्ष्णिग्राह के लक्षणों से विपरीत लक्षण जिसमें हो वह 'आक्रन्द' है।

पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रन्दमित्रं च ॥ २८ ॥

जो पार्ष्णिग्राह का शत्रु और आक्रन्द का मित्र है वह "आसार" संज्ञक है।

अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिसभयवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तर्धिः ॥ २९ ॥

जो अरि और विजिगीष इन दोनों के मण्डल के मध्यवर्त्ती होकर जीवन निर्वाह करे और दोनों ओर से वेतन ग्रहण करे तथा पर्वत अथवा अरण्य में निवास करे वह "अन्तर्धि" है।

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः ॥ ३० ॥

जो राजा से न उत्पन्न हो, लोभी, क्षुद्र, विरक्त स्वभाव वाला, अन्यायी, मद्य द्यूत आदि दुर्गुणों का व्यसनी हो तथा जिसके मित्र, अमात्य, सामन्त और सेनापति उसके विरुद्ध हो गये हों ऐसे शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए।

अनाश्रयो दुर्वलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः ॥ ३१ ॥

जिसका कोई सहायक न हो या हो भी तो हीनशक्ति वाला हो तो ऐसे शत्रु का उन्मूलन कर देना चाहिए।

विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ॥ ३२ ॥

शत्रु यदि मित्र बन जाय तो भी उसे विभवहीन कर दे अर्थात् उसका धन छीन ले अथवा उसे मार डाले।

समाभिजनः सहजशत्रुः ॥ ३३ ॥

अपने दायाद पट्टीदार सहज शत्रु होते हैं।

विरोधी विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः ॥ ३४ ॥

जो किसी कारणवश विरोध करता हो या विरोध करानेवाला हो वह कृत्रिम शत्रु है।

अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैष एकान्ततः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसन्निकर्षौ ॥ ३५ ॥

दूर सीमान्तवर्त्ती आदि राजा शत्रु होते हैं और समीपवर्त्ती मित्र यह

निश्चित सिद्धान्त नहीं है क्योंकि शत्रुता और मित्रता के कारण कार्य हैं न कि दूरी और सामीप्य।

बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ॥ ३६ ॥

बुद्धिबल आत्मबल से भी श्रेष्ठ है।

शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः ॥ ३७ ॥

शशक के द्वारा सिंह का मारा जाना इसका दृष्टान्त है।

कोशदण्डबल प्रभुशक्तिः ॥ ३८ ॥

कोशबल और सैन्यबल का होना प्रभुशक्ति है।

शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ॥ ३९ ॥

इसमें शूद्रक और शक्तिकुमार दृष्टान्त हैं। राजा शूद्रक ने अपने विपुलकोष और प्रचुर सैन्यबलसे शक्तिकुमार का नाश कर दिया था।

विक्रमोबलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ॥ ४० ॥

पराक्रम और बल का होना उत्साहशक्ति है, जिसमें राम दृष्टान्त हैं।

शक्तित्रयोपचितो ज्यायान्, शक्तित्रयापचितो हीनः, समानशक्तित्रयः समः ॥ ४१ ॥

तीनों शक्तियों से अभ्युदय को प्राप्त श्रेष्ठ, उक्त शक्तित्रय से हीन हीन और सम शक्तित्रय वाला व्यक्ति सम है।

सन्धि-विग्रह-यानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् ॥ ४२ ॥

मैत्री, वैर, आक्रमण, उपेक्षा करके बैठे रहना, आत्मसमर्पण और दो शत्रुओं में एक के साथ मैत्री करने के अनन्तर दूसरे पर आक्रमण = द्वैधीभावः राजा के लिये यह छह गुण समूह हैं।

अपराधो विग्रहः ॥ ४४ ॥

विजयेच्छु राजा के प्रति कोई अनुचित करना विग्रह (वैर) है।

अभ्युदयो यानम् ॥ ४५ ॥

शत्रु पर चढ़ाई कर देना अथवा पलायन कर जाना 'यान' है।

उपेक्षणमासनम् ॥ ४५ ॥

शत्रु के प्रति उपेक्षा भाव रख लेना 'आसन है।

परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥ ४७ ॥

शत्रु को आत्मसमर्पण करना संश्रय है।

एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥ ४८ ॥

जब राज्य पर एक साथ दो शत्रु चढ़ाई कर दे तब एक अपेक्षाकृत

बलवान् के साथ सन्धि करके अन्य पर चढ़ाई कर देना 'द्वैधीभाव' है। अथवा अकेले ही शत्रु से सन्धि करके अनन्तर विग्रह—युद्ध-करना द्वैधीभाव है।

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥ ४६ ॥

प्रथम पक्ष में सन्धि करते हुए, वैर करते हुए विजय की इच्छा करना बुद्धि के आश्रित रहता है अर्थात् मन में सन्धि और विग्रह तथा विजय का विकल्प द्वैधीभाव है।

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लङ्घनम् ॥ ५० ॥

शत्रु की अपेक्षा यदि स्वयं क्षीण शक्ति हो रहा हो तो किसी शर्त्त के साथ उससे सन्धि कर लेनी चाहिए किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि 'शर्त्त' के विषय में आगे चलकर शत्रुपक्ष द्वारा मर्यादा का उल्लङ्घन न हो।

अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद् यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥ ५१ ॥

यदि शत्रु की अपेक्षा शक्तिशाली होने की प्रतीति हो रही हो और अपनी सेना में किसी प्रकार का क्षोभ न हो तो शत्रु से लड़ते ही रहना चाहिए।

न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यथायत्यामस्ति कुशलम् ॥ ५२ ॥

शत्रु न मुझे मार सकने में समर्थ होगा न मैं शत्रु को मार सकने में समर्थ हूं ऐसा समझ में आने पर तटस्थ होकर बैठ जाय, किन्तु भविष्य की कुशल का ध्यान रखे।

गुणातिशययुक्तो यायाद् यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये, न भवति (च)पश्चात् क्रोधः ॥ ५३ ॥

यदि सैन्य एवं कोश बल के कारण शत्रु की अपेक्षा स्वयं अधिक शक्तिशाली हो तो यह निश्चय करके कि उसके आक्रमण के निमित्त प्रस्थान कर देनें के अनन्तर कुछ राष्ट्र द्वेषी कोई हानि तो न करेंगे अथवा बाद में कोई उपद्रव तो न होगा तो आक्रमण करने के निमित्त प्रस्थान कर दे।

स्वमण्डलम् अपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥ ५४ ॥

अपने मण्डल की रक्षा न करके शत्रु के देश पर आक्रमण कर बैठना नंगे का साफा बांधने के समान है। अर्थात् शिर पर तो पगड़ी बांध ले और सारा शरीर नंगा हो तो वह जैसे उपहास पात्र होता है वैसे ही स्वदेश को अरक्षित छोड़ परदेश में जाना हास्यास्पद है।

रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद् यदि न भवति परेषामामिषम् ।। ५५ ।।

रस्सी बटने के समान, शक्तिहीन राजा शत्रु को आत्मसमर्पण कर दे यदि इससे वह किसी दूसरे राजा का भक्ष्य अथवा वध्य न होता हो।

रस्सी में पतले-पतले अनेक सूत्र मिलकर उसे सुदृढ बना देते हैं उसी प्रकार शक्तिहीन भी दूसरे का आश्रय ग्रहण कर पुष्ट हो जाय।

बलवद् भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ।। ५६ ।।

बलवान् शत्रु के भय से शक्तिहीन का आश्रय ग्रहण करना वैसा ही उपहासास्पद है जैसे हाथी के भय से रेंड के पेड़ का आश्रय लेना।

स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्याश्रयणमिव ।। ५७ ।।

शत्रु के भय से जब राजा स्वयम् अस्थिर हो तब अन्य किसी अस्थिर राजा का आश्रय लेना वैसा ही है जैसा कि नदी में बहते या डूबते हुए व्यक्ति का दूसरे बहते या डूबते व्यक्ति को पकड़ना।

वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्त्तनादात्मविक्रयः ।। ५८ ।।

शत्रु की इच्छाओं का अनुसरण करते हुए जीवित रहना आत्मविक्रय है। मानी पुरुष के लिये मर जाना उससे अच्छा है :

आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित् सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान् ।। ५९ ।।

परिणाम काल में यदि कल्याण सुनिश्चित हो तो किसी कार्य के सम्बन्ध में शत्रु का संश्रय श्रेयस्कर है।

निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ।। ६० ।।

कहीं पर शोध में अकस्मात् मिली हुई निधि जिस प्रकार तत्काल ग्रहण कर ली जाती है उसी प्रकार राजकीय कार्य में समय का कोई नियम नहीं है किसी समय भी राजाज्ञा-वश कोई भी काम करना पड़ सकता है तथा राजकार्य तत्काल ही कर डालना चाहिए।

मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ।। ६१ ।।

जिस प्रकार बहुधा आकाश में अकस्मात् बादल छा जाते हैं उसी प्रकार राजकार्य भी अकस्मात् उठ खड़े होते हैं और किये जाते हैं, किन्तु शत्रु से सन्धि और विग्रह सम्बन्धी कार्य सहसा नहीं किन्तु विचारपूर्वक करना चाहिए।

द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योऽवश्यमात्मना सहोत्सहते ।। ६२ ।।

यदि शत्रु का शत्रु निश्चित रूप से अपने प्रति उत्साहयुक्त हो अर्थात् साथ

देने को तैयार हो तो 'द्वैधीभाव'' अर्थात् बलिष्ठ से सन्धि एवं निर्बल से युद्ध की नीति का आश्रय लेना चाहिए। अथवा मन में कुछ और तथा ऊपर से कुछ और की नीति का आश्रय लेकर स्थिति के अनुकूल विजय प्राप्त करनी चाहिए।

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ॥ ६३ ॥

दो बलशाली राजाओं के बीच पड़ा हुआ शत्रु दो सिंहों के बीच पड़े हुए हाथी के समान सुखपूर्वक नष्ट किया जा सकता है।

भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन सन्दध्यात् ॥ ६४ ॥

शत्रु अथवा अन्य व्यक्ति यदि भूमिका प्रार्थी हो तो उसे भूमि न देकर उसकी उपज देना चाहिए।

भूफलदानम् अनित्यं, परेषु भूमिर्गता गतैव ॥ ६५ ॥

भूमि की उपज देनेवाली बात अनित्य है, किन्तु दूसरे के पास भूमि जाने पर वह सदा के लिये चली जाती है।

अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धतलः ॥ ६६ ॥

भूमि में उपेक्षा के साथ भी लगाया गया वृक्ष जड़ जमाकर दृढ़ हो हो जाता है।

उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपति र्भवति सार्वभौमः ॥ ६७ ॥

साम, दान, दण्ड, भेद इन उपायों के साथ पराक्रम करने वाला और अनुरक्त प्रजावाला राजा थोड़े ही प्रदेश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्त्ती के तुल्य होता है।

न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ६८ ॥

वंश परम्परा से प्राप्त भूमि किसी की भूमि नहीं होती, किन्तु यह वसुन्धरा वीरों के द्वारा भोगी जाती है। अर्थात् वंश परम्परा से अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त पृथ्वी का भोग वही मनुष्य कर सकता है जो वीर और उत्साह सम्पन्न होता हैं अन्यथा उसके कारण अन्य व्यक्ति उस पृथ्वी या राज्य पर अपना अधिकार कर लेते है।

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥ ६९ ॥

साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड यह चार उपाय हैं।

तत्र पञ्चविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं, परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपनिबन्धनमिति ॥ ७० ॥

साम पाँच प्रकार का है, गुण संकीर्तन अर्थात् शत्रु को वश में करने के

लिये उसके गुणों का वर्णन करना, सम्बन्धोपाख्यान अर्थात् परस्पर सम्बन्ध दृढ़ होने में सहायक उपाख्यानों को सुनाना, परोपकार का प्रदर्शन, आयति प्रदर्शन, अर्थात् अपनी मैत्री को भविष्य के लिये शुभावह बताना और आत्मोपनिबन्धन।

यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपनिधानम् ॥ ७१ ॥

मेरे पास जो कुछ रुपया पैसा आदि हैं उसे आप अपने कामों में लगाइये इसका नाम आत्मोपनिधान है।

बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानम् ॥ ७२ ॥

शत्रु के प्रचुर द्रव्य की सुरक्षा के निमित्त थोड़ी द्रव्यराशि देकर उसे सन्तुष्ट करना उपप्रदान है।

योगतीक्ष्णगूढ़पुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशङ्काजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥ ७३ ॥

विषादि का प्रयोग करके तथा तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर प्रकृति के पुरुष, गुप्तचर तथा दोनों ओर से वेतन भोगी व्यक्तियों के द्वारा शत्रु सैन्य में परस्पर शङ्का उत्पन्न करना, तिरस्कार की भावना भरना-भेद है।

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥ ७४ ॥

शत्रु का वध, उसे पीड़ित करना, उसका धन छीन लेना इनका नाम दण्ड है।

शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याण-बुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥ ७५ ॥

शत्रु के पास से आये हुये व्यक्ति की अच्छी तरह परीक्षा करे अनन्तर यदि वह कल्याण बुद्धि अर्थात् अपना भला चाहने वाला हो तो उस पर अनुग्रह करे—दान मानादि से उसे सन्तुष्ट करे।

किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥ ७६ ॥

क्या जंगल में उत्पन्न हुई औषध कल्याणकारक नहीं होती? इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि शत्रु के आदमी पर सर्वथा अविश्वास ही न करना चाहिए; वह भला भी हो सकता है।

गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धी लोकस्तन्त्रोद्वासयति ॥ ७७ ॥

गृह में प्रविष्ट कबूतर जिस प्रकार घर को उजाड़ बना देता है उसी प्रकार शत्रु का क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति भी सैन्य में विद्रोह उत्पन्न कर देता है।

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥ ७८ ॥

मित्र, सुवर्ण और भूमि इन लाभों में उत्तरोत्तर लाभ अधिक कल्याण

कारक है। अर्थात् मित्र प्राप्ति से सुवर्ण प्राप्ति अच्छी और उससे भी अच्छी भूमि की प्राप्ति है।

हिरण्यं भूमिलाभाद् भवति मित्रञ्च हिरण्यलाभादिति ॥ ७९ ॥

भूमि के लाभ से सुवर्ण होता है और सुवर्ण अर्थात् धन से मित्र प्राप्ति होती है।

शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथा चरेद् यथा न वञ्च्यते ॥ ८० ॥

शत्रु यदि मित्रता करना चाहे तो उसकी मित्रता के कारणों पर विचार करके उसके साथ ऐसा सतर्क व्यवहार रक्खे जिससे वञ्चित न होना पड़े।

गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासंवित्तिकरणं सर्वां शङ्कां दुरपवादं च करोति ॥ ८१ ॥

जिस व्यक्ति ने गूढ़ उपायों द्वारा राजा का कार्य सिद्ध किया हो उसका अनादर करने से उस कार्य सिद्ध करने वाले के मन में अनेक प्रकार की आशङ्काएं उत्पन्न होती हैं और राजा का भी कृतघ्न के रूप में अपयश होता है।

गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥ ८२ ॥

दोनों ओर से वेतन पाने वाले के स्त्री पुत्रों का संरक्षण राजा को करना चाहिए। उभय वेतन ऐसा चतुर वह व्यक्ति है जो एक राजा का वेतन भोगी गुप्तचर होकर दूसरे राज्य में भेद लेने जाय किन्तु वहां भी कुछ ऐसा व्यवहार प्रदर्शित करे जिससे वहां विश्वस्त बनकर वहां भी वेतन मिले।

शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥८३॥

शत्रु का अपकार अर्थात् उसकी धन-धरती छीन कर उसे उसके दायादों को देकर उन्हें अपना बना ले अथवा वे बलिष्ठ होकर सर उठावें तो उनको दण्डित और पीड़ित करे।

परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषप्रतिग्रहो वा हेतुः ॥ ८४ ॥

शत्रु पर विश्वास चार कारणों से किया जा सकता है—उसका सत्य-व्यवहार, शपथग्रहण, जमानत, और उसके प्रधान अमात्य आदि का अपनी ओर ग्रहण अर्थात् पूर्णरूप से मिल जाना।

सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात् कोप इति न यायात् ॥ ८५ ॥

प्रथम तो प्रचुर लाभ हो किन्तु अन्तमें कुछ उपद्रव की संभावना हो तो शत्रु पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान न करे।

सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दवरकः प्रविशति ॥ ८६ ॥

उपद्रव सुई के छेद के सदृश होते हैं। सुई का छेद छोटा ही होता है किन्तु उस में बहुत लम्बा डोरा चला जाता है इसी प्रकार बहुत लाभ की आशा से किये गये प्रस्थान में लाभ के अनन्तर थोड़ा भी संभावित उपद्रव बढ़ जाता है और तब पराये देश में बड़ी कठिनाई होती है।

न पुण्यपुरुषापचयः, क्षयोहिरण्यस्य, धान्यापचयः, व्ययः शरीरस्य-(एवम्) आत्मनो लाभमन्विच्छेद्येन सामिषक्रव्याद इव न परैरवरुध्यते ॥ ८७ ॥

अपने किसी प्रभावशाली अथवा प्रतापी अमात्य आदि का नाश न हो, कोश का नाश न हो, धान्य की क्षीणता न हो और अपना शरीर संशय में न पड़ जाय—इन बातों का ध्यान रख कर तब राजा अपने लाभ की इच्छा करे। इसमें उस मांस भक्षी पक्षी का उदाहरण है जो मांस का टुकड़ा मुंह में दबाकर जब उड़ता है तब उसके मांस के लोभ से अन्य पक्षी उसका पीछा करते हैं इसी प्रकार राजा का अनायास लाभ देखकर अन्य प्रतिपक्षी राजा उसका पीछा करेंगे।

शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥ ८८ ॥

जो राजा दण्ड देने में समर्थ होकर भी अपराधियों को क्षमा करता है वह मानों अपना ही तिरस्कार करता है। अर्थात् दण्ड न पाकर अपराधी पुनः उसका अपराध करेगा। अतः अपराधी को दण्डित अवश्य करना चाहिए।

अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्त्तुः, सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥ ८९ ॥

राजाज्ञा का उल्लङ्घन करने वालों को दन्ड देने वाले राजा से लोग उसी प्रकार डरते हैं जिस प्रकार सर्प से।

अनायकां बहुनायकां वा सभां न प्रविशेत् ॥ ९० ॥

विना सभापति को अथवा जहाँ बहुत से सभापति अथवा मुखिया हों उस सभा में नहीं जाना चाहिए।

गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किञ्चिद् भवति, असिद्धे पुनर्ध्रुवमपवादः ॥ ९१ ॥

किसी गण अथवा संघ का नेता बनकर आगे चलने में काम सिद्ध हो जाने पर अपना कोई विशेष लाभ नहीं होता और काम बिगड़ता है तो निन्दा अवश्य होती है।

सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ॥ ६२ ॥

किसी कार्य विशेष के लिये ऐसी गोष्ठी का प्रस्ताव नहीं करना चाहिये जिस के लिये प्रस्तावित अथवा चुने गये लोगों से पक्षपात आदि के कारण लोगों की हानि हो अर्थात् निष्पक्ष व्यक्तियों की कमेटी बनानी चाहिए।

गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेद् । यदैवार्थागमस्तदैव सर्वतिथिनक्षत्रग्रहबलम् ॥ ६३ ॥

घर आये हुए द्रव्य का किसी भी कारण वश अनादर न करे अर्थात् उसे लौटावे नहीं। जब ही पैसा आता है तब ही समस्त तिथि नक्षत्र और ग्रहों का बल प्राप्त हो जाता है। अर्थात् किसी से द्रव्य लेने में सदा शुभ मुहूर्त्त है।

गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार शिक्षित हाथी के माध्यम से जंगल में दूसरा हाथी पकड़ा जाता है उसी प्रकार द्रव्य से ही द्रव्य का उपार्जन होता है।

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य संभूयोत्थाने सङ्घात-विघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यं न प्रणयेत् ॥ ६५ ॥

महान् जन समूह यदि सुसंगठित होकर किसी पक्ष का उत्थापन करता है तो उस जन संघ को अवैध घोषित कर राजा को अपने बुद्धि और पौरुष के गर्व से दण्डित नहीं करना चाहिए। सौ और हजार आदमियों का संघ तो अवध्य और अदण्ड्य ही है। अर्थात् सुसंगठित जनमत के विषय में बहुत गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए सहसा अपने सामर्थ्य के मद से कुछ दण्डका विधान नहीं करना चाहिए।

सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा ॥ ६६ ॥

राजा से भूमि अर्थात् देश की शोभा तभी होती है जब राजा आसुरी वृत्ति का न हो।

परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः ॥ ६७ ॥

दूसरे की बुद्धि पर चलने वाला तथा बिना सम्यक् परीक्षण के ही दूसरे के धन और प्राण का अपहरण करने वाला राजा 'असुरवृत्ति' का राजा है।

परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः ॥ ६८ ॥

दूसरों के कहने से क्रुद्ध और प्रसन्न होनेवाला राजा 'पर प्रणेय' है।

तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्त्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ॥ ६९ ॥

स्वामी की उस इच्छा का अनुसरण करना चाहिए जिससे भविष्य में अपना अहित न हो।

निरनुबन्धमर्थानुबन्धं चार्थमनुगृह्णीयात् ॥ १०० ॥

राजा प्रजा से कर आदि के रूप में धन का ग्रहण इस प्रकार करे जिससे प्रजा को क्लेश न हो और उसकी ऐसी आर्थिक क्षति न हो कि भविष्य में आयका स्रोत ही बन्द हो जाय।

नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः ॥ १०१ ॥

राजा के लिये वह धन धन नहीं है जिससे भविष्य में उसकी महान् आर्थिक क्षति हो।

लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ॥ १०२ ॥

लाभ तीन प्रकार का होता है : सर्वथा नवीन अर्थात् खेती व्यापार आदि से प्राप्त, भूतपूर्व जैसे कई वर्षों का बचा हुआ अन्न अथवा व्यय से बचाकर एकत्र की गई पूंजी आदि और पैतृक अर्थात् जिसे पिता पितामह आदि छोड़ गये हों।

[इति षाड्गुण्यसमुद्देशः]

३०. युद्धसमुद्देशः

स किं मन्त्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महान्तमनर्थसंशयम् ॥ १ ॥

वह मन्त्री अथवा मित्र अच्छा नहीं है जो किसी विवाद के प्रारम्भ में ही राजा को अन्य कोई कल्याण-मार्ग न बताकर युद्ध का अथवा देशत्याग का उपदेश देता है और इस प्रकार उसे महान् अनर्थ के संशय में डाल देता है।

संग्रामे कोनामात्मवानादावेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥ २ ॥

कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति होगा जो रण में प्रारम्भ में ही अपने स्वामी के प्राणों को संशय की तुला पर आरोपित करेगा ? अर्थात् अमात्य को प्रारम्भ में सन्धि आदि का उपक्रम कर असफल होने पर ही युद्ध के लिए राजा को तत्पर करना चाहिए।

भूम्यर्थंनृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥ ३ ॥

राजा की समस्त नीति और उसका समस्त पराक्रम भूमि अर्थात् देश की रक्षा और वृद्धि के लिये होता है न कि देशत्याग के लिये।

बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥ ४ ॥

जब बुद्धि बल से शत्रु को जीतने में असमर्थ हो तब शस्त्रयुद्ध का उपक्रम करे।

न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥ ५ ॥

बाणों में वह शक्ति नहीं होती जो बुद्धिमानों की बुद्धि में।

दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मन्तोऽदृष्टमप्यर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥ ६ ॥

धनुर्धारी दृष्ट लक्ष्य पर भी कभी निशाने से चूक जाते हैं, किन्तु बुद्धिमान् पुरुष अप्रत्यक्ष कार्य को भी भली प्रकार सिद्ध कर लेते हैं।

श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयाभास ॥ ७ ॥

सुना जाता है कि माधव के पिता ने दूर होने पर भी कामन्दकी के माध्यम से माधव के लिये मालती को प्राप्त कर लिया था।

प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनाम् ॥ ८ ॥

चतुर पुरुषों के लिये बुद्धि बल अमोघ अस्त्र है।

प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूभृतः ॥ ९ ॥

बुद्धि बल से परास्त किये गये राजा वज्र से मारे गये मनुष्य के समान पुनः शत्रुता अथवा विरोध के लिये समर्थ नहीं होते।

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं, नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥ १० ॥

शत्रुओं के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण हुए बिना ही भयभीत हो जाना वैसा ही उपहसनीय होता है जैसा कि नदी न हो तब भी मनुष्य का अपना जूता उतारने लगना।

अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥ ११ ॥

अत्यन्त उग्र प्रकृति का राजा बलशाली होने पर भी शरभ = अष्टापद के समान चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता। शरभ नाम का जंगली पशु-अत्यन्त बलशाली होता है किन्तु स्वभाव का इतना उग्र होता है कि मेघ गर्जन को हस्ति गर्जन मानकर उछल-कूद करते करते पहाड़ से नीचे गिर कर स्वयं मर जाता है। अतः राजा को बिना सोचे समझे क्रोध करके अपना ही अहित नहीं कर डालना चाहिए।

प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ॥ १२ ॥

युद्ध और संग्राम से पलायन इन दोनों में ही जब समान रूप का विनाश संभव हो तब युद्ध करना ही अच्छा है, जिसमें विनाश निश्चित नहीं अपितु विजय की भी संभावना है।

कुटिला हि गतिः दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति, जिजीविषुमपि च मारयति ॥ १३ ॥

दैव की गति कुटिल होती है वह मरणोन्मुख को भी जिला देती है और जीवितेच्छु को भी मार डालती है। अर्थात् दैवगति को कोई समझ नहीं सकता बहुधा एकदम मरता हुआ प्राण: जी उठता है और सर्वथा स्वस्थ व्यक्ति जिसके जीने की पूरी सम्भावना मनुष्य करता रहता है—मर जाता है। अत: जीवन-मरण के प्रश्न को दैव पर डालकर राजा को युद्ध करना ही उचित है।

दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥ १४ ॥

दीपक की शिखा (लौ) में जिस प्रकार पतिंगे का निश्चित विनाश है उसी प्रकार युद्ध में अपना निश्चित विनाश समझकर राजा को युद्ध से, बिना अधिक विचार किये हुए ही पलायन कर देना चाहिए।

जीवितसंभवे दैवो देयात् कालबलम् ॥ १५ ॥

जीवन की संभावना अर्थात् आयु रहने पर दैव ही युद्ध काल में निर्बल को भी सबल बना देता है। जिससे वह विजयी हो जाता है।

वरम् अल्पमपि सारं बलम् , न भूयसी मुण्डमण्डली ॥ १६ ॥

शक्ति और साहसहीन बहुत बड़ी सेना की अपेक्षा थोड़ी भी वस्तुत: शक्तिशाली सेना श्रेष्ठ है।

असारबलभङ्गः सारबलभंगं करोति ॥ १७ ॥

जहां सशक्त और अशक्त दोनों प्रकार की सेनाएं संग्राम भूमि में उपस्थित होती हैं वहां अशक्त सेना के नाश अथवा स्वाभाविक भगदड़ से सारवान् = सशक्त सेना में भी भगदड़ मच जाती है और उसका विनाश हो जाता है।

नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥ १८ ॥

प्रतिग्रह अर्थात् सैन्य से सुसज्जित हुए बिना अकेले युद्ध में न जाना चाहिए।

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात् स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥ १९ ॥

राजचिह्न पताका और गण-वाद्य आदि आगे करके उसके पीछे स्वामी से अधिष्ठित शक्तिशाली सैन्य की सज्जा का नाम 'प्रतिग्रह' है।

सप्रतिग्रहं बलं साधु युद्धायोत्सहते ॥ २० ॥

प्रतिग्रह युक्त सेना युद्ध के लिये भली प्रकार से उत्साहित होती है।

पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥ २१ ॥

सेना के पृष्ठभाग में जलयुक्त दुर्ग का होना सेना के लिये महान् आश्रय (सहारा) होता है।

नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥ २२ ॥

नदी में बहे जाते हुए मनुष्य के लिये तट पर पुरुष का दिखलाई पड़ना भी उसके जीवन का कारण होता है।

निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत ।। २३ ।।

यदि जल मिलता रहें तो अन्नहीन भी सेना जीवित रह सकती हैं।

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ।। २४ ।।

अपनी शक्ति का अनुमान किये बिना सबल शत्रु से युद्ध के लिये उत्साहित होना पर्वत से टक्कर लेकर शिर फोड़ने के तुल्य हैं।

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ।। २५ ।।

शान्तिमय उपायों से सिद्ध हो सकने वाले कार्यों को युद्धसाध्य नहीं करना चाहिए।

गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ।। २६ ।।

जब गुड खाने से ही मनोरथ पूर्ण होता हो तो विष कौन खायेगा।

अल्पव्ययभयात् सर्वनाशं करोति मूर्खः ।। २७ ।।

मूर्ख व्यक्ति थोड़े से व्यय के भय से अपना सर्वनाश कर बैठता है। अर्थात् वह राजा मूर्ख है जो किसी बली शत्रु राजा द्वारा कोई क्षुद्र वस्तु या प्रदेश मांगने पर उसे नहीं देता और परिणाम स्वरूप उस बलवान् व्यक्ति के क्रुद्ध होने पर अपना सब कुछ खो देता है।

कोनाम कृतधीः शुल्क-भयाद् भाण्डं परित्यजति ।। २८ ।।

कौन बुद्धिमान् शुल्क (चुङ्गी) देने के डर से अपने व्यापारी माल की गांठ त्याग देता है ?

स किं व्ययो यो महान्तम् अर्थं रक्षति ।। २९ ।।

वह व्यय क्या व्यय कहा जायगा जिससे महान् अर्थराशि नष्ट होने से बचाई जा सके। प्रसंग के अनुकूल इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी अत्यन्त बलशाली देश से अपने राज्य की रक्षा के निमित्त शत्रु राजा कि आगत-स्वागत में कुछ खर्च करने से जिससे कि वह प्रसन्न होकर आक्रमण आदि न करे तो वैसा आगत-स्वागत सम्बन्धी व्यय व्यर्थ व्यय नहीं हैं।

पूर्णसरः सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ।। ३० ।।

नाली बना कर तालाब के बढ़े हुए पानी को बहा देने के अतिरिक्त तालाब की सुरक्षा का दूसरा उपाय नहीं होता।

अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ।। ३१ ।।

बलवान् शत्रु की याचना पर जो अर्थ-दान नहीं देता उसका धन या राज्य वह बलवान शत्रु उसके प्राणों के साथ ले लेता है।

बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिभिषेण प्रयच्छेत् ।। ३२ ।।

सीमान्तवर्त्ती बलशाली शत्रु राजा को यदि धन देना चाहता हो तो विवाहोत्सव आदि के व्याज से अथवा उसके यहां जाकर मिलने की भेंट के व्याज से दे।

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम् ॥ ३३ ॥

निर्बल राजा यदि सीमाधिप बलशाली राजा को उसका भोज्य अर्थ नहीं देता तो उसे दण्ड स्वरूप अवधि-शून्य बन्धन अर्थात् कारागार आदि प्राप्त होता है।

कृतसंधानविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥

झुण्ड के अन्य हाथियों को इधर-उधर भगाकर जिस प्रकार अकेला हाथी सहज रूप से वश में कर लिया जाता है उसी प्रकार शत्रु के द्वारा सैन्य भंग कर दिये जाने पर राजा भी किसी साधारण राजा के द्वारा भी वश में किया जा सकता है।

विनिःसारितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥ ३५ ॥

जिस तालाब का जल एक दम निकाल दिया जाता है। उसमें बड़ा शक्तिशाली भी घड़ियाल पानी के सांप की तरह प्रभावहीन हो जाता है।

वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते ॥ ३६ ॥

वन से बाहर जाने पर सिंह भी स्यार तुल्य हो जाता है।

नास्ति संघस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं कुथित-तृणसङ्घातः ॥ ३८ ॥

संघ को निःसार = व्यर्थ नहीं कहा जा सकता क्या बटे हुए मूंज की रस्सी से मतवाला हाथी भी बांधा नहीं जाता?

संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥ ३८ ॥

कमलनाल के कोमलतन्तुओं के समूह अर्थात् उसकी बनी रज्जु से दिग्गज भी बांधा जा सकता है।

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥ ३९ ॥

दण्ड साध्य शत्रु के लिये किसी दूसरे अर्थात् साम आदि उपायों का अवलम्बन अग्नि में आहुति डालने के समान है।

यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात् ॥ ४० ॥

किसी यन्त्र विशेष, शस्त्र अर्थात् चीर-फाड़ और अग्नि-क्षार अर्थात् किसी तेज तेजाब आदि से ही दूर की जा सकने वाली व्याधि के लिये कोई दूसरी औषधि क्या कर सकती है?

उत्पाटितदंष्ट्रो भुजङ्गो रज्जुरिव ॥ ४१ ॥

दांत उखाड़ देने पर विषधर सर्प साधारण रस्सी के समान हो जाता है अर्थात् सैन्य बल आदि नष्ट कर दिये जाने पर राजा भी प्रभावहीन हो जाता है।

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥ ४२ ॥

ठंडा पड़ गया हुआ अङ्गारा शरीर पर गिरकर भी क्या कर सकता है।

विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ॥ ४३ ॥

शत्रुओं के चाटुकार (प्रिय वचनों द्वारा प्रशंसा) को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए।

जिह्वया लिहन् खड्गो मारयत्येव ॥ ४४ ॥

जिह्वा से भी चाटने पर तलवार मार ही डालती है।

तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥ ४५ ॥

'तन्त्र' और 'अवाप' का नाम नीतिशास्त्र है।

स्वमण्डलपालनाभियोगस्तन्त्रम् ॥ ४६ ॥

अपने मण्डल अथवा राज्य की सुरक्षा और पालन-पोषण की योजना बनाना 'तन्त्र' है।

परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥ ४७ ॥

दूसरे के मण्डल अथवा राज्य प्राप्ति के निमित्त सन्धि विग्रहादि की योजना 'अवाप' है।

बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥ ४८ ॥

प्रतिपक्षी यदि बहुत हों तो उनमें अकेला न जाय क्योंकि बलिष्ठ सर्प को भी बहुत सी चींटियां मिलकर मार ही डालती हैं।

अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद् वा ॥ ४९ ॥

बिना परीक्षण के शत्रु के प्रदेश में गमन-निर्गमन नहीं करना चाहिए।

विग्रहकाले परस्मादागतं न किञ्चिदपि गृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः। श्रूयते हि निजस्वामिना सह कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥ ५० ॥

जब वैर ठना हुआ हो अथवा युद्ध चल रहा हो तब शत्रु पक्ष से आये हुए शत्रु के दायादों—पट्टीदारों को छोड़कर अन्य किसी वस्तु या व्यक्ति को अपने यहां न आने दे न आश्रय दे। ऐसा सुना जाता है कि कृकलास नाम के सेना-

पति ने अपने स्वामी के साथ कूट कलह-झूठी लड़ाई करके अपने स्वामी के विपक्षी विरूपाक्ष का विश्वास भाजन बनकर उसे मार डाला था।

(बलमपीडयन् परानभिषेणयेत् ॥ ५१ ॥)

अपनी सेना को किञ्चित् भी कष्ट न देकर अर्थात् खूब सन्तुष्ट रखकर उस सेना के साथ शत्रु-देश पर आक्रमण करना चाहिए।

(दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यम् ॥ ५२ ॥)

अपनी सेना को बहुत लम्बा प्रवास का अवसर न देना चाहिए इससे सेना खिन्न हो उठती है और सुखपूर्वक शत्रु के द्वारा अपनी ओर मिलाई जा सकती है। (अर्थात् सेना के आदमियों को कुछ दिनों बाद अपने घर जाने का अवकाश भी देते रहना चाहिए जिससे उनके मन में क्षोभ न उत्पन्न करे।)

(न दायादपरः परबलस्याकर्षणमन्त्रोऽस्ति ॥ ५३ ॥)

दायाद-सगोत्रों से बढ़कर शत्रु की सेना के आकर्षण का दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। (शत्रु के पट्टीदार ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जो राज्यप्राप्ति के लोभ से बड़ी सरलता के साथ अपने पक्ष में मिलाये जा सकते हैं अतः विग्रहकाल में यदि शत्रु के सगोत्र पट्टीदार किसी रूप से अपनी ओर मिलाये जा सकें तो अत्युत्तम है।)

(यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥ ५४ ॥)

जिसके ऊपर आक्रमण करे उसके दायादों को अवश्य उभाड़े या भड़कावे।

कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार एक कांटे से दूसरा शरीर में गड़ा हुआ कांटा निकाला जाता है उसी प्रकार शत्रु के सहारे शत्रु का नाश करे।

बिल्वेन हि बिल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥ ५६ ॥

बेल से बेल को तोड़ने से दोनों प्रकार से अपना लाभ होता है। दोनों ही फल अगर टूट गये तो दोनों का उपयोग कर लिया जा सकेगा।

(यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥ ५७ ॥

शत्रु ने जितनी अधिक अपनी हानि की हो उससे अधिक उसकी हानि करने के अनन्तर उससे सन्धि कर ले।)

(नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥ ५८ ॥)

बिना तपाया हुआ लोहखण्ड दूसरे लोहखण्ड से नहीं जुड़ता।

(तेजो हि सन्धाकारणं, नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥ ५९ ॥

ऐक्य अथवा सन्धि का कारण तेज और प्रभाव होता है न कि अपराधों का क्षमा अथवा उपेक्षा करना।)

उपचीयमानो घटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥ ६० ॥

जब अपना अभ्युदय हो रहा हो तब अपनी लघुसेना के कारण हीनशक्ति होकर भी महान् शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। पत्थर का छोटा सा भी टुकड़ा घड़े से टक्कर लेकर उसे फोड़ डालता है।

दैवानुलोम्यं, पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुपचयः ॥ ६१ ॥

दैव की अनुकूलता, उत्तम पुरुषों का समागम, और विरोधियों का अभाव यह सब विजिगीषु के अभ्युदय के लक्षण हैं।

पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद् हीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥ ६२ ॥

शत्रु यदि प्रबल पराक्रमी और वीर पुरुषों की सैन्यशक्ति से सम्पन्न हो तो हीन विजिगीषु को सन्धि के द्वारा सम्यक् व्यवहार करना चाहिए।

दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥ ६३ ॥

दुःख से अर्थात् शत्रु द्वारा पीड़ित होने पर क्रोध होता है जिससे तेजस्विता आती है और पुरुष पराक्रम के लिये तत्पर होता है।

स्वजीविते हि निराशस्यावार्यो भवति वीर्यवेगः ॥ ६४ ॥

अपने प्राणों की आशा न रखकर जो युद्ध में प्रवृत्त होता है उसका शौर्यवेग अजेय होता है। अर्थात् 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि' इस संकल्प के साथ जो संग्राम भूमि में अवतीर्ण होता है और अपने प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ता है उस योद्धा के आक्रमण के वेग को रोकना दुष्कर होता है।

लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥ ६५ ॥

छोटा भी सिंहशावक हाथी को मार ही डालता है।

नातिभग्नं पीडयेत् ॥ ६६ ॥

जो शत्रु अत्यन्त दलित हो चुका हो उसे क्लेश न दे। अर्थात् युद्ध में पराजय के कारण अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त होकर जो भाग रहा हो उसका पीछा न करना चाहिए। सम्भव है वह अपने जीवन से निराश होकर 'मरता क्या न करता' उक्ति के अनुसार पुनः समस्त शक्ति से कोई उपद्रव कर दे और उससे अपनी हानि हो जाय।

शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥ ६६ ॥

प्रबल पराक्रमी के प्रति सम्मान का बाह्य प्रदर्शन उसके मन में वैसा ही दोष उत्पन्न करता है जैसा कि देवता की पूजा न करके उसके बकरे की पूजा करने से देवता को रोष होता है।

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥ ६८ ॥

समान बल वालों के परस्पर युद्ध में मरण निश्चित होता है और विजय में सन्देह रहता है। मिट्टी के कच्चे बरतन को दूसरे कच्चे बरतन से टकराने पर दोनों का नाश होता है। (इस दृष्टान्त का आशय है कि समान बल वाले के साथ युद्ध न करे किन्तु सन्धि कर ले।)

ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥ ६९ ॥

बलवान् के साथ लड़ना पैदल का हाथी से लड़ने के समान विनाशकारी है।

स धर्मविजयो राजा यो विधेयमात्रेणैव सन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७० ॥

जो राजा युद्ध के द्वारा किसी को दासमात्र बनाकर ही सन्तुष्ट हो जाता है और प्रजा के प्राण, धन और सम्मान का अपहरण नहीं करता वह धर्मविजयी है।

स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७१ ॥

जो राजा द्रव्य मात्र प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जाता है और प्रजा के प्राण और अभिमान का अपहरण नहीं करता वह लोभविजयी है।

सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ॥ ७२ ॥

जो विजित देश की प्रजा के प्राणोंको, सम्पत्तिको और सम्मान को विनष्ट कर उसकी भूमिका अभिलाष रखता है वह असुरविजयी है।

असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥ ७३ ॥

असुरविजयी राजा के आश्रित होना वधिक के गृह में मृगप्रवेश के समान है।

यादृशात्तादृशात् वा यायिनः स्वामी बलवान् यदि साधु चरसंचारः ॥ ७४ ॥

जिस किसी भी प्रकार के आक्रमणकारी से वह प्रभु बलवान् अर्थात् श्रेष्ठ है जिसका गुप्तचर विभाग ठीक है।

रणेषु भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥ ७५ ॥

संग्राम में, भयभीत और शस्त्रहीन की हिंसा करनेवाला राजा ब्रह्महत्या का भागी होता है।

संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥ ७६ ॥

संग्राम में पकड़े गये आक्रमणकारियों को सत्कारपूर्वक अर्थात् कुछ वस्त्र आदि उपहार देकर छोड़ देना चाहिए।

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति पापाय धर्माय च, तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं, दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥ ७७ ॥

इस संसार में समस्त प्राणियों के दो पार्श्वों में पाप और पुण्य के लिये मति अर्थात् विवेकरूपी सरिता प्रवाहित हो रही हैं, जिसमें पाप का स्रोत अत्यन्त सुलभ है, किन्तु धर्म का—पुण्य का—स्रोत दुर्लभ है। अर्थात् मनुष्य पाप की ओर सहज रूप से प्रवृत्त होता है; किन्तु धर्म की ओर कठिनता से।

सत्येनापि शप्तव्यम् ॥ ७६ ॥

शत्रु के हृदय में विश्वास उत्पन्न कराने के लिये सत्य भाव से भी शपथ करनी चाहिए।

महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥ ८० ॥

अभयदान देना ही महान् पुरुषों की शपथ है।

सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः, स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनम् ॥ ८१ ॥

संसार के समस्त व्यवहार सज्जनों और असज्जनों के वचन के अधीन हैं। वही आदमी सब लोगों से महान् और पूज्य है जो उदासीन भाव से भी जो कुछ कह देता है वह उसका अनुशासन हो जाता है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो जिस किसी रूप में भी कह दे और उसका निर्वाह करे वही सर्वश्रेष्ठ है।

नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥ ८१ ॥

नीतियुक्त वचन ही सत्य सरस्वती का रूप है।

व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियाऽस्ति ॥ ८२ ॥

वचन का पालन न करने वालों का इहलोक तथा परलोक दोनों ही बिगड़ता है।

न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ॥ ८३ ॥

विश्वासघात से बढ़कर दूसरा पातक नहीं है।

विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥ ८४ ॥

विश्वासघातक व्यक्ति सर्व पर स्वयं ही अविश्वास करता है।

असत्यसन्धिषु कोशपानं ? जातानुजातान् हन्ति ॥ ८५ ॥

असत्य प्रतिज्ञ पुरुषों का शपथ करना उनके सन्तति का विनाश कर देता है।

---

१. नाप्रेरिता वाग् देवता वदति।

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूहरचनायां हेतवः ॥ ८६ ॥

सैन्यबल, बुद्धि, विस्तृतप्रदेश, ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु का उद्योग, सैन्य मण्डल का अनेक प्रकार का विस्तार ये सुसंगठित व्यूह-रचना के कारण हैं।

साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनम् ॥ ८७ ॥

सुसंगठित व्यूह रचना भी तभी तक स्थिर रहती है जब तक कि वह शत्रुसेना का अवलोकन नहीं करती—उसके अनन्तर संग्राम छिड़ जाने पर व्यूह का संगठन छिन्न भिन्न होने लगता है लोग यथावसर लड़ने के लिये इधर-उधर हो जाते हैं और व्यूह भंग हो जाता है।

न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥८८॥

संग्राम में शस्त्रविद्या की शिक्षा के अनुसार नहीं किन्तु शत्रु के प्रहार के अनुकूल युद्ध करना चाहिए।

व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेषणमवस्कन्दः ॥ ८९ ॥

जब शत्रु संकट में पड़ा हो अथवा असावधान हो तब शत्रु के नगर में विजिगीषु का अपनी सेना भेजना 'अवस्कन्द' है।

अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धम् ॥ ९० ॥

किसी दूसरी ओर के प्रस्थान की भूमिका रचकर दूसरी ओर आक्रमण करना 'कूटयुद्ध' है।

विषविषमपुरुषोपनिषद्वाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीं दण्डः ॥ ९१ ॥

शत्रु के लिये विष प्रयोग घातक पुरुषों का प्रयोग उसके समीप जाना, सन्देश भेजना, भेदनीति से काम लेना ये 'तूष्णीं दण्ड' हैं।

एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थम् ॥ ९२ ॥

किसी एक व्यक्ति को समस्त सैन्य का पूर्ण अधिकार नहीं देना चाहिए, भेदापराध अर्थात् शत्रु से मिल जाने पर वह महान् उपद्रव कर सकता है। अर्थात् सर्वाधिकार यदि किसी एक ही व्यक्ति के पास हुआ और किसी प्रकार यदि वह शत्रु से जा मिला तो अवश्य ही वह अपने स्वामी का सर्वनाश कर देगा।

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तन्त्रेण ॥ ९३ ॥

यदि राजकार्य करते हुये आदमियों के मृत हो जाने पर राजा उनकी सन्तति का पालन पोषण नहीं करता तो वह उनका ऋणी रहता है और

उसके अमात्य आदि उसकी ठीक सेवा नहीं करते, क्योंकि उनको यह अनुभव होता है कि यह हमारे न रहने पर हमारे बच्चों के साथ भी ऐसा ही कृतघ्नता का व्यवहार करेगा।

स्वामिनः पुरःसरणं युद्धेऽश्वमेधसमम् ॥ ९४ ॥

युद्ध में स्वामी के आगे होना अश्वमेध यज्ञ करने के समान पुण्यदायक है।

युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलम् ॥ ९५ ॥

युद्ध में स्वामी का साथ छोड़नेवाले का इस लोक और परलोक में भी कल्याण नहीं होता।

विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत, चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण सञ्चरेयुस्तिष्ठेयुश्च ॥ ९६ ॥

राजा जब युद्ध के लिये प्रस्थान करे तब आधी सेना से तो वह व्यावहारिक रूप में युद्ध करे और उसकी आधी सेना सदा तैयार रहे। उसका सेनापति युद्ध में जाय भी और एक स्थान पर आवास बनाकर—डेरा डालकर अवसर के अनुकूल वास भी करे, और शत्रु के चारों ओर अपनी सेनायें घूमती रहें और टिकी रहें।

धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेनाटविकाः प्रणिधयः परबलान्यागच्छन्ति इति, निवेदयेयुः ॥ ९७ ॥

विजिगीषु राजा के गुप्तचर सदा जङ्गलों में घूमते रहें और 'शत्रुसेना आ रही है' इसका निवेदन धूम, अग्नि तथा धूलि के प्रदर्शन से शृंग ध्वनि के व्याज से करे।

पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यस्य सर्वदाऽऽस्थानं दद्यात् ॥ ९७ ॥

विजिगीषु को अपना आस्थान अर्थात् पड़ाव ऐसी जगह डालना चाहिए जो पुरुष प्रमाण अर्थात् पांच-छह फुट ऊंचा हो, जहाँ बहुत अधिक नहीं किन्तु थोड़े आदमी चल फिर सकें और आ जा सकें, उसके आगे मण्डप के लिये विस्तृत स्थान हो—राजा सदा इस प्रकार के पड़ाव के मध्य में स्थित हो।

सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥ ९९ ॥

जहाँ सर्वसाधारण का आना जाना हो ऐसे स्थान पर ठहरने से शरीर रक्षा में संशय रहता है।

भूचरो दोलाचरस्तुरङ्गचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत ॥ १०० ॥

शत्रु के प्रदेश में भूमिपर अर्थात् पैदल, पालकी पर चढ़कर और घोड़े पर चढ़कर कभी भी प्रवेश नहीं करना चाहिए।

करिणं जंपाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥ १०१ ॥

हाथी अथवा जंपान (पहाड़ी प्रदेशों में प्रसिद्ध वाहन मनुष्य की पीठ पर बंधे हुए बेंत के आसन पर चलना) पर चढ़कर चलने से छोटे मोटे उपद्रवों की संभावना नहीं रहती।

[इति युद्धसमुद्देशः]

३१. विवाहसमुद्देशः

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥ १ ॥

बारह वर्ष की स्त्री, सोलह वर्ष का पुरुष, यह दोनों काम सम्बन्धी व्यवहारों को समझने योग्य हो जाते हैं।

विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥ २ ॥

विवाह-पूर्वक काम व्यवहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सन्तान को कुलीन बनाता है।

युक्तितो वरणविधानम्, अग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥ ३ ॥

विधिपूर्वक कन्या और वर का वरण अर्थात् अङ्गीकार या चुनाव करके अग्नि, देवता और ब्राह्मण की साक्षी में उन दोनों का परस्पर पाणिग्रहण कराने का नाम विवाह है।

स ब्राह्मो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते ॥ ४ ॥

जिस विवाह में कन्या को सुन्दर आभूषणों से अलंकृत कर वर को दिया जाता है वह ब्राह्म विवाह है।

स दैवो विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥ ५ ॥

यज्ञ का विधान करके उसमें वर के रूप में वर्त्तमान ऋत्विज अर्थात् पुरोहित को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में कन्यादान करना 'दैवविवाह' है।

गोमिथुनपुरः सरं कन्यादानादार्षः ॥ ६ ॥

गाय-बैल की जोडी देकर कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह है।

विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः ॥ ७ ॥

तुम दोनों एक साथ धर्माचरण करो इस उपदेश या प्रवचन के साथ कन्यादान प्राजापत्य विवाह है।

एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ॥ ८ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य ये चार धर्म्य अर्थात् शास्त्र धर्मोक्त विवाह हैं।

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद् गान्धर्वः ॥ ९ ॥

माता-पिता और बन्धु-बान्धवों द्वारा प्रमाणित अर्थात् स्वीकृत हुए बिना ही परस्पर प्रेम वश पुरुष और स्त्री का सम्मिलन गान्धर्व विवाह है।

पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥ १० ॥

पैसे रुपये का मोल करके अर्थात् वर के पिता से कुछ रुपया आदि लेकर कन्या देना 'आसुर' विवाह है।

सुप्तप्रमत्तकन्यादानात् पैशाचः ॥ ११ ॥

सोती हुई अथवा मदिरा आदि के नशे से मत्त कन्या का दान 'पैशाच' विवाह है।

कन्यायाः प्रसह्यादानाद् राक्षसः ॥ १२ ॥

बलात् कन्या का अपहरण करना 'राक्षस' विवाह है।

एते चत्वारोऽधर्म्या अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधू-वरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वम् ॥ १३ ॥

यद्यपि गान्धर्व, पैशाच, आसुर और राक्षस ये चारों विवाह धर्म-सम्मत नहीं हैं तथापि यदि वर और वधू के बीच परस्पर निर्दोष अनुराग है तो ये अधर्म संगत नहीं होते।

उन्नतत्वं कनीनिकयोः, लोमशत्वं जङ्घयोः, अमांसलत्वमूर्वोः, अचारुत्वं कटि-नाभि-जठर-कुचयुगलेषु, शिरालुत्वम् अशुभसंस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरं हरीतकीव, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिङ्गलत्वमक्ष्णोः, लग्नत्वं पि (चि) ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपरुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकताऽसमवादि-कुब्ज-वामन किराताङ्गत्वं, जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः। सहसा तद्गृहे स्वयमाहूतस्यागतस्य वाभ्यक्ता, व्याधिमती, रुदती, पतिघ्नी, सुप्ता, स्तोकायुष्का, बहिर्गता, कुलटा, अप्रसन्ना, दुःखिता, कलहोद्यता, परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना, दुर्भगेति नैतां वृणीत कन्याम् ॥ १४ ॥

कन्या के दोष निम्नलिखित हैं। इन दोषों से युक्त कन्या विवाह योग्य नहीं होती।

आंखों की पुतलियां उभरी हुई हों, जांघों में रोएं अधिक हों, पिण्डलियों में मांस न हो, कमर, नाभि, पेट और दोनों स्तन सुन्दर न हों, बाहों की नसें

दिखलाई पड़ें और वे सुडौल न हों, तालु, जीभ, और नीचे के होठ हरड़ के रङ्ग के अर्थात् काले हों, दांत ऊंचे नीचे और पृथक्-पृथक् हों, गालों में गड्ढे पड़ते हों, आंखें पीली-पीली हों, पैर की आखिरी अंगुलि सटी हुई हों, माथा उभरा हुआ या धंसा हुआ हो, कान ठीक जगह पर न हों, बाल, मोटे, पीले और कड़े हों, बहुत लम्बी, बहुत लम्बी, बहुत छोटी, और शरीर से बहुत हीन अर्थात् बहुत ही पतली दुबली हो, कमर शरीर के अन्य भागों के अनुकूल न हों, कुबड़ी हो, बौनी हो, अथवा टेढ़े-मेढ़े अंगोंवाली हो, वर के जन्म और देहसे समानता न हो अथवा अधिकता हो, इनके अतिरिक्त घर में अकस्मात् आये हुए अथवा स्वयं बुलाये गये व्यक्ति से मिलने-जुलने वाली हो, रोगिणी हो, सदा रोती रहनेवाली हो, पति की हिंसा करनेवाली, सदा सोनेवाली, अल्पायु, बाहर भागी हुई, कुलटा, सदा उदास, दुःखी और लड़ने के लिये तत्पर, नौकर-चाकरों के लिये उद्वेग उत्पन्न करनेवाली, अप्रियदर्शना और अभागिन—कन्या से विवाह न करे।

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥ १५ ॥

पाणिग्रहण में यदि शिथिलता हो तो वर को कन्या से दबकर रहना पड़ता है।

मुखमपश्यतो वरस्य, निमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥१६॥

पाणिग्रहण के समय कन्या वर का मुख हीन देखे और आंखें बन्द कर ले तो समझना चाहिए कि कन्या बड़ी प्रचण्ड अर्थात् उग्र स्वभाव की होगी।

सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥ १७ ॥

स्त्री के साथ सोते समय यदि वर चुपचाप रहता है तो कन्या उसे पशु-तुल्य समझती है।

बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥ १८ ॥

यदि वर कन्या के साथ प्रारम्भ में ही बलप्रयोग करता है तो कन्या जन्मभर उससे द्वेष ही करती है।

धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रम्भणम् ॥ १९ ॥

कन्या को अपना विश्वासभाजन एवं प्रीतिपात्र बनाने के लिये धैर्य और चातुर्य आवश्यक होता है।

समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥ २० ॥

समान ऐश्वर्य, समानकुल, किन्तु भिन्न-भिन्न गोत्रवालों का विवाह सम्बन्ध होना चाहिए।

महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति ॥ २१ ॥

कन्या का पिता यदि अधिक ऐश्वर्यशाली हुआ तो कन्या पति को सदा छोटा समझती है।

अल्पस्य कन्यापितुर्दौस्थ्यं महता कष्टेन विज्ञायते ॥ २२ ॥

यदि कन्या का पिता अल्प विभव वाला और वर विशेष विभव वाला हुआ तो कन्या कीं मनःस्थिति अथवा मन के दुःखों का ठीक-ठीक अनुभव वर को बड़ी कठिनाई से होता है।

अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥ २३ ॥

छोटे कुल का बड़े कुल के साथ सम्बन्ध होने से व्यय अधिक और आय कम होती है।

वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्यायाः परिग्रहः ॥ २४ ॥

वेश्या को अङ्गीकार करना अच्छा है किन्तु वंश अथवा चरित्र से शुद्ध जो न हो ऐसी कन्या का वरण नहीं अच्छा है।

वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः ॥ २५ ॥

कन्या का जन्म भले ही नष्ट हो जाय, किन्तु उसे अकुलीन के साथ विवाहित कर देना अच्छा नहीं है।

सम्यग् वृत्ता कन्या तावत् सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः ॥ २६ ॥

सदाचार सम्पन्न भी कन्या तब तक सन्देह का स्थान बनी रहती है जब तक कि उसका विवाह नहीं हो जाता।

विकृतप्रत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥ २७ ॥

स्मृतिकारों का मत है कि संयोग या भ्रमवश अन्धे, लूले, लंगड़े आदि विकृत अंगवाले पुरुष के साथ विवाहित कन्या पुनर्विवाह के योग्य होती है।

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये अनुलोम क्रम से अर्थात् ब्राह्मण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार कन्याओं से क्षत्रिय इसी प्रकार तीन और वैश्य दो कन्याओं से विवाह कर सकता है।

देशापेक्षो मातुलसम्बन्धः ॥ २९ ॥

मामा की लड़की के साथ विवाह करना देश की प्रथा के अधीन है।

धर्मसन्ततिरनुपहतारतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धि-र्देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ॥ ३० ॥

धर्मानुसार सन्तानोत्पादन, दोषरहित कायसम्बन्ध, गृह के कार्यों का सुव्यवस्थित रूप से होना, कुलीनता और शुद्ध आचार-व्यवहार का होना,

देवता, ब्राह्मण, अतिथि और बन्धु-बान्धवों के सत्कार में त्रुटि न होना ये सब दारसंग्रह अर्थात् विवाह के फल हैं।

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥ ३१ ॥

गृहिणी का नाम गृह है न कि ईंट-पत्थर और लकड़ी के समूह का।

गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वम्, अस्वातन्त्र्यं सदा मातृव्यञ्जनस्त्रीजनावरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपायः ॥ ३२ ॥

घर के कामों में लगाये रखना, सीमित रुपया पैसा देना, अधिक स्वच्छन्दता का न होने देना और सर्वदा बड़ी बूढ़ी स्त्रियों के बीच रखना ये सब कुलवधुओं की रक्षा के उपाय हैं।

रजकशिला, कुर्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥ ३३ ॥

वेश्याएं धोबी की शिला एवं कुत्ते के भोजन के लिये रखे गये मिट्टी के खप्पड़ के समान होती हैं कौन कुलीन उनमें अनुरक्त होना चाहेगा अर्थात् कोई कुलीन जिसे अपने वंश-वैभव का अभिमान होगा वेश्यागामी नहीं होगा।

दाने दौर्भाग्यं, सत्कृतौ परोपभोग्यत्वम्, आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेप्यनात्मीयत्वं, बहुकालसम्बन्धेऽपि त्यक्तानां तदैव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ॥ ३४ ॥

प्रेमी के दान-मान से कभी सन्तुष्ट न होना सत्कार करते रहने पर भी दूसरों से सम्भोग करना, उन पर अत्यन्त आसक्त होने पर या तो अनादृत होना अथवा मरण को प्राप्त करना, महान् उपकार करने पर भी आत्मीयता का अभाव पाया जाना, बहुत समय का भी सम्बन्ध होने पर परित्यक्त होने पर तत्क्षण ही अन्य पुरुष से सम्बन्ध कर लेना ये सब वेश्याओं के कुलपरम्परागत धर्म होते हैं।

[इति विवाहसमुद्देशः]

---

३२. प्रकीर्णसमुद्देशः

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकम् ॥ १ ॥

समुद्र में जिस प्रकार विशाल रत्नराशि इतस्ततः बिखरी हुई है उसी प्रकार विभिन्न प्रसंगों के उपयुक्त सुभाषित रत्नों का विन्यास जिसमें हो उसे प्रकीर्णक कहते हैं।

वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः, प्रगल्भः, प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणागमशक्तिसम्पन्नः, संप्रज्ञातसमस्तलिपिभाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेलेखनवाचनसमर्थश्चेति सान्धिविग्रहिकगुणाः ॥ २ ॥

वर्ण-पद वाक्य अर्थात् व्याकरण और प्रमाण अर्थात् तर्कशास्त्र के प्रयोग में कुशल बुद्धि, स्पष्ट अक्षर बोलनेवाला स्पष्ट अर्थवाले वाक्यों को प्रयोग करने वाला, मधुर और गम्भीर ध्वनिवाला, धृष्ट, प्रतिभाशाली, अच्छी तरह तर्क-बितर्क करने में कुशल, और विनयी तथा समस्याओं को निश्चयात्मक रूप में जानकर प्रमाण देने में समर्थ, समस्त लिपि, भाषा, चारों वर्णों के आचार-विचार, समयागम (दर्शन-शास्त्र) और अपने तथा पराये से व्यवहार में कुशल शीघ्र लिखने-पढ़ने में समर्थ व्यक्ति सन्धिविग्रहिक सन्धि और युद्ध के विषय में परामर्श दाता है अर्थात् महामात्य अथवा राज्यमन्त्री उपर्युक्त गुणों से युक्त होना चाहिए।

कथाव्यवच्छेदो, व्याकुलत्वं, मुखे वैरस्यम्, अनवेक्षणं, स्थानत्यागः, साध्वाचरितेऽपि दोषोद्भावनं, विज्ञप्ते च मौनम्, अक्षमाकालयापनम्, अदर्शनं, वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिङ्गानि ॥ ३ ॥

जो पुरुष अपने प्रति विरक्त हो उसके यह लक्षण होते हैं—कथा भंग करना, अर्थात् चलती हुई बातचीत को बीच से काट देना या न सुनना, व्याकुलता, मुख पर आह्लाद का अभाव, सामने न देखना, स्थान छोड़कर चले जाना, अच्छे कामों में भी दोष निकालना, कुछ प्रश्न करने पर मौन हो जाना, उत्तर देने में असमर्थ होकर व्यर्थ समय बिताना, मुंह न दिखाना और बात स्वीकार करके उसे पूरा न करना।

दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः, सम्प्रश्नेष्वादरः, प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परोक्षे गुणग्रहणं, तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिङ्गानि ॥ ४ ॥

अपने प्रति श्रद्धालु और अनुरागी व्यक्ति में—दूर से ही देखने लगना, देखते ही मुख पर आह्लाद का होना, प्रश्न करने पर बड़े आदर के साथ सुनना और उत्तर देना अपने लिये की गई प्रिय बातों का स्मरण करते रहना, पीठ पीछे गुणों का वर्णन आदि करना, और सदा उसके परिवार वालों के अनुकूल व्यवहार करना—ये लक्षण होते हैं।

श्रुतिसुखत्वम्, अपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वम्, उभयालङ्कारसम्पन्नत्वम्, अन्यूनाधिकवचनत्वम्, अतिव्यक्तान्वयत्वम्, इति काव्यस्य गुणाः ॥ ५ ॥

काव्य के गुण इस प्रकार हैं :—सुनने में सुखद, नवीन, और अविरोधी अर्थ एवं कल्पनाओं से परिपूर्ण, शब्द और अर्थ उभयविध अलंकारों से युक्त न न्यून न अधिक वचनों के प्रयोग से युक्त और अत्यन्त स्फुट पद तथा वाक्य सम्बन्ध का होना।

अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वं, दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासम्, अयथार्थयतिविन्यासत्वम्, अभिधानाभिधेयशून्यत्वम्, इति काव्यस्य दोषाः ॥ ६ ॥

काव्य के दोष निम्नलिखित हैं : अत्यन्त कर्कश वाक्य रचना, असम्बद्ध और उक्त अर्थ की पुनः आवृत्ति करना, कठिनता से समझ में आने योग्य एवं व्याकरण से सिद्ध न होने वाले पदों का प्रयोग करना, अनुचित स्थानों पर यति अर्थात् विराम का प्रयोग करना, कोश आदि में कथित शब्दों के प्रयोग से शून्य होना।

वचनकविः, अर्थकविः, उभयकविः, वर्णकविः, चित्रकविः, दुष्करकविः, अरोचकी, सम्मुखाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥ ७ ॥

वचन कवि अर्थात् कालिदास आदि के समान प्रसाद गुण सम्पन्न कविता करने वाला, अर्थकवि अर्थात् भारवि के समान गूढार्थ कविता करनेवाला, उभयकवि अर्थात् माघ आदि कवि के समान शब्द और अर्थ दोनों के प्रयोग में अत्यन्त कुशल, वर्णकवि, चित्रकवि और क्लिष्ट कविता करनेवाला, अरोचकी अर्थात् अरुचि उत्पन्न करनेवाली कविता करनेवाला, और सम्मुखाभ्यवहारी अर्थात् सामने ही कविता बना देने वाला—आशुकवि ये आठ प्रकार के कवि होते हैं।

मनः प्रसादः, कलासु कौशलं, सुखेन चतुर्वर्गविषया व्युत्पत्तिः, आसंसारं च यश इति कविसङ्ग्रहस्य फलम् ॥ ८ ॥

राजा को अपनी सभा में कवियों का संग्रह करने से ये लाभ होते हैं। कवि की कविताएं सुन सुन कर मन प्रसन्न रहता है, विभिन्न प्रकार की कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के सम्बन्ध का ज्ञान सुखपूर्वक हो जाता है तथा संसार की सत्ता जब तक है तब तक उस राजा का यश कवि की कविता के माध्यम से बना रहता है।

आलप्तिशुद्धिः, माधुर्यातिशयः, प्रयोगसौन्दर्यम्, अतीव मसृणता, स्थान-कम्पित-कुहरित-आदि भावः, रागान्तर संक्रान्तिः, परिगृहीतराग-निर्वाहः, हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥ ९ ॥

आलाप का शुद्ध होना, अत्यधिक माधुर्य, पदरचना का सौष्ठव, अत्यन्त स्निग्धता और कोमलता, ऊंचा स्वर करके गा सकने योग्य, धुन में गा

सकना, और ध्वनि संकोच कर सकना, दूसरे राग में सरलता से परिवर्तन किया जा सकना और स्वीकृत राग का पूर्ण निर्वाह होना एवं हृदय ग्राहिता का होना यह सब गीत के गुण हैं।

समत्वं, तालानुयायित्वं, गेयाभिनेयानुगत्वं, श्लक्ष्णत्वं, प्रव्यक्तयति-प्रयोगत्वम्, श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्यगुणाः ॥ १० ॥

सम पर बजना, ताल के अनुसार रहना, गेय और अभिनेय अर्थात् गीत और नाट्य के अनुरूप होना कोमलता, स्फुटयति का प्रयोग होना, और सुनने में प्रिय लगना ये वाद्य के गुण हैं।

दृष्टि हस्तपादक्रियासु समसमायोगः, संगीतकानुगतत्वं, सुश्लिष्ट-ललिताभिनयाङ्गहारप्रयोगभावो, रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्य-गुणाः ॥ ११ ॥

दृष्टि, हाथ और पैर का संचालन समान रूप से, ताल और लय के अनुसार हो, जो संगीत छिड़ा हो उसका अनुसरण होना, बिना विच्छेद के अभिनयानुकूल अंगों का इधर-उधर चलाना, शृङ्गारादि रस, आलम्बन उद्दीपन आदि भाव विभाव तथा कौशिकी आदि वृत्तियों के अनुरूप सौन्दर्य का होना यह सब नृत्य के गुण हैं।

स खलु महान् यः खल्वार्त्तो न दुर्वचनं ब्रूते ॥ १२ ॥

जो दुःखी होने पर भी दुर्वचनों का प्रयोग नहीं करता वही व्यक्ति महान् है।

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥ १२ ॥

जिसके पास आकर याचक गण सफल होकर न लौटें वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं है।

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहित-वृत्तीनाम् १४ ॥

इस समय अपना काम निकाल लो भविष्य में देखा जायगा—इस तरह के विचार वाले 'तादात्विक' लोग ही ऋण लेकर तीर्थ यात्रा, यज्ञ आदि सांसारिक सुखभोग और किसी बड़े आदमी का स्वागत-सत्कार रूप सेवा कार्य तथा व्यापार करते हैं, किन्तु जो विवेकी हैं और उत्तर काल में अपना कल्याण चाहते हैं वे ऐसा नहीं करते।

स्वस्य विद्यमानम् अर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानम् ॥ १५ ॥

अपने पास जो वस्तु वर्तमान हो उसे ही याचकों को देना चाहिए न कि जो न हो उसे भी ऋण आदि कर देना।

ऋणदातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च ॥ १६ ॥

ऋणदाता को तत्काल यही फल मिलता है कि उसे दूसरे की उपासना करनी पड़ती है अर्थात् जिसे ऋण दिया है उसके यहां जाकर मांगना पड़ता है, कलह होता है, ऋण लेने वाले के द्वारा तिरस्कार होता है और अपने काम के समय उसे अपना धन नहीं मिलता।

अदातुस्तावत् स्नेहः सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥ १७ ॥

कर्ज लेकर फिर उसे न देने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति कर्ज लेनेवाले से तभी तक स्नेह, सज्जनता और प्रियभाषण तथा साधुता पूर्ण व्यवहार रखता है जब तक कि उसे अर्थ अर्थात् कर्ज नहीं मिल जाता।

तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ॥ १८ ॥

झूठ बोलकर भविष्य की किसी विशेष अर्थहानि को बचाया जा सके अथवा महान् कार्य सिद्ध हो सके तो वह झूठ-मूठ नहीं है।

प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥ १९ ॥

झूठ बोलकर किसी निरपराध के प्राण बचाए जा सकें तो वह झूठ-मूठ नहीं है।

अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ॥ २० ॥

धन के लिये लोग माता को भी मार डालते हैं तो क्या झूठ न बोलेंगे। अतः धन के सम्बन्ध में विश्वास नहीं करना चाहिए चाहे कितनी ही शपथ कोई क्यों न ले।

सत्कला सत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः ॥ २१ ॥

सत् कलाओं की प्राप्ति, सत्य भाषण में स्वाभाविक रुचि ये विवाह के कर्त्तव्य-कर्म हैं और वधू तथा वर का निर्वाह पुत्र-पौत्रादि की प्राप्ति तो भाग्याधीन ही होती है।

रतिकाले तन्नास्ति कामार्त्तो यन्न ब्रूते पुमान्, न चैतत्प्रमाणम् ॥ २२ ॥

काम-बाधा से पीड़ित मनुष्य रति के समय अपनी प्रिया के विश्वास और प्रसन्नता के लिये ऐसी कौन सी बात है जो नहीं कहता किन्तु वह सब प्रामाणिक नहीं होतीं।

तावत् स्त्री-पुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिः कैतवं च ॥ २३ ॥

स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रेम तभी तक बना रहता है जब तक कि उनमें किसी बात से परस्पर प्रतिकूलता न हो, कलह न हो और रति-संबंधी कोई छल-कपट न पैदा हो।

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः, प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥ २४ ॥

अस्थायी सेना से संग्राम में विजय नहीं मिलती तथा प्राण-रक्षा की दृष्टि से स्त्रियों के प्रति किये गये कल्याणकारी कार्यों से प्राण-रक्षा नहीं होती। अर्थात् तत्काल के लिये इकट्ठा की गई सेना से संग्राम नहीं जीता जा सकता और भविष्य में यह हमारी रक्षा करेगी इस दृष्टि से स्त्रियों के संग की गई भलाई भी काम नहीं देती।

तावत् सर्वः सर्वस्यानुनयवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः ॥ २५ ॥

तब तक सभी सब की सेवा में विनम्र भाव से लगे रहते हैं जब तक कि उनका काम नहीं निकल जाता। काम निकल जाने पर कोई-किसी को नहीं पूछता।

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥ २६ ॥

अशुभ बातों को दूर रखने के लिये समय का बिता देना ही एक मात्र उपाय है।

पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दोषशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्याम् ॥ २७ ॥

पका हुआ अन्न खाने से जैसे भूख मिट जाती है उसी प्रकार स्त्रियों से कामशान्ति मात्र करना प्रयोजन रखना चाहिए उनमें आसक्ति और विरक्ति नहीं।

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥ २८ ॥

समय पर घास तिनके से भी मनुष्य को प्रयोजन होता है तो हस्त-पाद आदि से संयुक्त मनुष्य से क्यों न होगा? अतः सब से मैत्री भाव रखना चाहिए।

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्-व्यापारस्य च ॥ २९ ॥

किसी सामान्य राजा के भी लेख का अनादर नहीं करना चाहिए। राजाओं के यहाँ लेख ही मुख्य होता है। उसी के आधार पर उनके यहाँ सन्धि और विग्रह का काम चलता है और समस्त संसार के काम भी लेख के ही अधीन होते हैं।

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धम् ॥ ३० ॥

जब कि नीतिज्ञ पुरुष फूल के द्वारा भी युद्ध नहीं करना चाहते तब शस्त्र के द्वारा युद्ध की तो चर्चा ही क्या है।

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्त्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या॥ ३१॥

प्रभु वही है जो बहुतों का भरण-पोषण करे। अर्जुन वृक्ष के प्रचुर फल से क्या लाभ जो कि किसी के काम आने लायक ही नहीं होता।

मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधाम्॥ ३२॥

जो पुरुष सब के द्वारा दिये गये क्लेशों को सह लेता है वह मार्ग में लगे पेड़ के समान त्यागी है। मार्ग में लगे पेड़ से सभी मनुष्य दातून, लकड़ी, पत्ती आदि लेते रहते हैं और वह फिर भी हरा भरा खड़ा रहता है इसी प्रकार वास्तविक त्याग उसी का है जो कोई कुछ भी क्यों न करे पर वह शान्त ही रहे।

पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः॥ ३३॥

पर्वत की शोभा जिस प्रकार दूर से ही अच्छी लगती है उसीप्रकार राजपद का सौन्दर्य भी दूर से ही शोभा देता है उसके निकट सम्पर्क में आने से अनेक कष्ट भी सहने पड़ते हैं।

वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः॥ ३४॥

बात-चीत में सभी अन्य देश अच्छे लगते हैं। वस्तुतः परदेश में क्लेश होता ही हैं अतः अपना देश छोड़कर अन्यत्र न जाना चाहिए।

अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी॥ ३५॥

निर्धन और बन्धुहीन व्यक्ति के लिये मनुष्यों से भरी हुई भी यह पृथ्वी महान् अरण्य के समान लगती है।

श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी॥ ३६॥

श्रीमानों के लिये जंगल भी राजधानी के समान ही सुखद बन जाता है।

सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिविपर्यस्ता॥ ३७॥

जिसका विनाश निकट होता है उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है।

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यम्॥ ३८॥

पुण्यात्मा पुरुष की कहीं भी दुर्गति नहीं होती।

दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदम्॥ ३९॥

जब दैव अपने अनुकूल होता है तब कौन सी सम्पत्ति नहीं सुलभ हो जाती और कौन विपत्ति दूर नहीं हो जाती।

असूयकः पिशुनः, कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ॥ ४० ॥

सदा दूसरों के गुणों में दोष निकालने वाला निन्दक पुरुष, चुगलखोर, कृतघ्न और अपने मन में किसी के प्रति बहुत दिनों तक क्रोध को बनाए रखने वाला ये चार अपने कर्मों से चाण्डाल हैं और पांचवां तो जाति से होता है।

औरसः, क्षेत्रजा, दत्तः, कृत्रिमो, गूढोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥ ४१ ॥

अपनी विवाहिता पत्नी से उत्पन्न औरस पुत्र, पराई स्त्री से उत्पन्न क्षेत्रज, बन्धु-बान्धवों से दिया गया दत्तक पुत्र, युद्ध आदि के द्वारा जीता गया अथवा किसी संकट से मुक्त कर पाला-पोसा गया कृत्रिम पुत्र, चोरी से पैदा किया गया गूढोत्पन्न पुत्र और पति के परदेश चले जाने या मर जाने के बाद उत्पन्न अपविद्ध ये छह प्रकार के पुत्र अपने दायाद और पिण्डदाता होते हैं।

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्याम् ॥ ४२ ॥

सन्यासियों और राज-परिवार को छोड़कर दायाद का निर्णय देश, समय वंश, सन्तान और स्त्री की दृष्टि से किया जाता है। अर्थात् सम्पत्ति के बंटवारे के विषय में विभिन्न देशों में विभिन्न नियम और मत प्रचलित हैं।

अतिपरिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥ ४३ ॥

अत्यधिक परिचय से किसका अनादर नहीं होता।

भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥ ४४ ॥

भृत्य को यदि स्वामी छोड़ नहीं देता तो भृत्य के अपराध से स्वामी को दण्ड मिलता है।

अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरून् ॥ ४५ ॥

समुद्र की महत्ता व्यर्थ है जो कि हलकी सारहीन वस्तु को ऊपर तैरने देता है और गुरु अर्थात् सारयुक्त ठोस चीज को डुबा देता है।

रतिमन्त्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥ ४६ ॥

मैथुन कर्म, मन्त्रणा, और भोजन के समय किसी को समीप न रहने दे।

सुष्ठु परिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥ ४७ ॥

बहुत हिल-मिल गये हों तब भी तिर्यग् योनि के पशु-पक्षी आदि पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥ ४८ ॥

मतवाले हाथी पर चढ़ने वाले का जीवन संशय में पड़ जाता है और नाश निश्चित रहता है।

अत्यर्थं ह्यश्वविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥ ४९ ॥

घोड़े के संग बहुत खिलवाड़ करने से कोई न कोई अङ्ग-भङ्ग हुए बिना नहीं रहता।

ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥ ५० ॥

ऋण न दे सकने पर दास कर्म द्वारा ऋण दूर करना चाहिए।

अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः ॥ ५१ ॥

यति, ब्राह्मण और क्षत्रियों को छोड़कर अर्थात् संन्यासीब्राह्मण और क्षत्रिय पर यदि ऋण हो और वह न दे सकें तो उनसे नौकरी लेकर ऋण नहीं पूरा करना चाहिए।

तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ॥५२॥

जो यथालाभ भोजन न कर सकें और सो न सकें उनके लिये अपना शरीर ही शत्रु के तुल्य होता है।

तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥ ५३ ॥

जो महामुनि के समान सब प्रकार का और सब का अन्न ग्रहण कर ले, सब प्रकार का क्लेश सह ले और सर्वत्र सुखपूर्वक सो सके उसके लिए कोई भी काम असाध्य नहीं है।

स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥ ५४ ॥

स्त्री की प्रीति के समान यह लक्ष्मी भी किसके पास स्थिर रह सकी है?

परपैशुन्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ॥ ५५ ॥

लोग दूसरों की चुगली और निन्दारूप उपाय से राजा के प्रियपात्र बनते हैं।

नीचो महत्त्वमात्मनि मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥ ५६ ॥

नीच पुरुष दूसरे की निन्दा करके अपना महत्त्व मानता है।

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥ ५७ ॥

परमाणु सबसे छोटा पदार्थ है इस दृष्टि से महान् मेरु पर्वत की प्रशंसा नहीं की जाती, किन्तु उसके गुणों के कारण।

न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ॥ ५८ ॥

महान् व्यक्ति बिना किसी कारण के ही किसी के प्रति कलुषित भावना वाले नहीं होते।

स वह्नेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णम् ॥ ५६ ॥

यह अग्नि का प्रभाव है कि स्वभावतः शीतल भी जल उष्ण हो जाता है।

सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी साधूपचरेत् ॥ ६० ॥

किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये किसी स्थायी प्रामाणिक अथवा स्थिर बुद्धिवाले की सम्यक् सेवा करनी चाहिए।

स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥ ६१ ॥

किसी स्थित अर्थात् धन-धान्य की प्रचुरता के कारण स्थायी अर्थात् धनी व्यक्ति के साथ छोटे आदमी को अर्थ-व्यवहार अर्थात् रुपये पैसे के लेन देन का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥ ६२ ॥

सत्पुरुषों की सेवा में लगे रहने पर भला-बुरा कुछ भी करे उससे उसकी निन्दा अथवा प्राण सङ्कट नहीं होता।

सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदम् ॥ ६३ ॥

सम्पत्ति से सम्पत्ति बढ़ती है और विपत्ति से विपत्ति।

गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्य सञ्चारं विचारयति ॥६४॥

जिस प्रकार दूध चाहने वाला यह कब सोचता है कि गो क्या भक्ष्य-अभक्ष्य खाती है इसी प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाला व्यक्ति भी उस व्यक्ति के कार्य-अकार्य पर विचार नहीं करता।

शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परम् आत्मानं रंजयन्ति ॥ ६५ ॥

शास्त्र-ज्ञानी और स्त्रियां गुणों के अनुभव को प्राप्त कर केवल अपने को सुखी बनाती हैं। अर्थात् शास्त्रज्ञ पुरुष विद्या के गुण से आत्मानन्द में मग्न रहता है और स्त्रियां अपने गुणों के कारण दूसरों की प्रिय बनकर अपने को सुखी करती हैं।

चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत, क्षात्रं हि तेजो महती पुरुषदेवता ॥ ६६ ॥

चित्र में भी बने हुए राजा का अपमान नहीं करना चाहिए। क्षत्रियत्व का तेज महान् देवता रूप में वर्त्तमान होता है।

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥ ६७ ॥

काम प्रारम्भ करने के अनन्तर उसके शुभाशुभ पर विचार करना वैसा ही व्यर्थ है जैसे शिर का मुण्डन करा लेने के अनन्तर शुभ नक्षत्र पूछना।

ऋणशेषाद् रिपुशेषादिवावश्यं भवति, आयत्यां भयम् ॥ ६८ ॥

ऋण के शेष रहने देने से शत्रु के शेष के समान ही भविष्य में अवश्य संकट आता है।

नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥ ६६ ॥

कौन नया सेवक विनीत नहीं होता, प्रारम्भ में तो सभी नौकर-चाकर बड़ी नम्रता प्रदर्शित करते हैं पर जो आगे चलकर पुराना होनेपर भी नम्र बना रहे वही उत्तम सेवक है।

यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥ ७० ॥

इस जगत् में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कौन अपना जीवन-निर्वाह कर पाता है अर्थात् संसार में अनेक अप्रत्याशित घटनाएं और कठिनाइयां उपस्थित होती हैं जिनसे मनुष्य जैसा चाहता है वैसा जीवन निर्वाह नहीं कर पाता।

अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥ ७१ ॥

धन न मिलने पर सभी त्यागी बन सकते हैं। अर्थात् जब तक मनुष्य के पास पैसा नहीं आता तभी तक वह तरह-तरह के दान-यज्ञ आदि के मनोरथ करता है बाद में पैसा आ जाने पर वह दान आदि शुभ कर्मों से मुख मोड़ लेता है।

अर्थार्थी नीचैराचरणान्नोद्विजेत्, किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥ ७२ ॥

धनाभिलाषी अथवा प्रयोजनार्थी को किसी प्रकार का क्षुद्र कार्य करने में संकोच नहीं करना चाहिए क्या जलाभिलाषी पुरुष कुआं खोदते समय नीचे नहीं जाता।

स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृतिहेतुः, जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्यकारणम् ॥ ७३ ॥

स्वामी के द्वारा दण्डित या ताड़ित होने पर उसी की आराधना करने से ही सुख मिलता है, कुपित माता जब बालक को मारती है तब अन्त में वही माता ही उसके जीवन का कारण होती है। अतः मालिक द्वारा निकाले गये नौकर को पुनः उसी को सेवा से प्रसन्न कर अपनी नौकरी आदि प्राप्त करनी चाहिए।

[इति प्रकीर्णसमुद्देशः]

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य रमणीयपञ्चपञ्चाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्त्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य परतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीनेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानल-

श्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवादीभ-पञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, केकिकुलराजकुञ्जरप्रभृतिप्रशस्ति-प्रस्तावालङ्कारेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणि (त्रिवर्ग) महेन्द्रमातलि-संजल्प-यशोधरमहाराजचरित-महाशास्त्र-वेधसा श्रीमत्सोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं नाम राजनीतिशास्त्रं समाप्तम् ।

श्रीः शुभं भूयात् ।

नीतिवाक्यामृतं सम्पूर्णम् ।

समस्त तार्किकचक्रचूडामणियों से वन्दनीय, पचपन महान् वादियों के विजयी, उत्कृष्टतपश्चर्या के सागर भगवान् नेमिदेव के प्रियशिष्य, वादीन्द्र-कालानल-श्रीमान् भट्टारक महेन्द्रदेव के छोटे भाई–स्याद्वाद–अचलसिंह, तार्किकचक्रवादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि–केकिकुलराजकुञ्जर इत्यादि प्रशस्तियों से अलङ्कृत षण्णवतिप्रकरण, युक्ति-चिन्तामणि, त्रिवर्ग–महेन्द्र-मातलिसंजल्प, यशोधरमहाराजचरित के रचयिता महाशास्त्रों के विधाता श्रीमान् सोमदेवसूरि द्वारा विरचित नीतिवाक्यामृत नाम का राजनीतिशास्त्र समाप्त हुआ । भगवती श्री कल्याणकारिणी हो ।

नीतिवाक्यामृत समाप्त ।